शेखर : एक जीवनी
विविध आयाम

सम्पादक : डॉ० राम कमल राय

८१३.३०६
राम|शे

शेखर : एक जीवनी विविध आयाम

सम्पादक

डॉ० राम कमल राय

रीडर, हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अभिव्यक्ति प्रकाशन

शेखर : एक जीवनी : : विविध आयाम

सम्पादक

डॉ० रामकमल राय

प्रकाशक

अभिव्यक्ति प्रकाशन

847, विश्वविद्यालय मार्ग, इलाहाबाद 211002

© अभिव्यक्ति प्रकाशन

वितरक

ज्ञान भारती

14/15 पुराना कटरा, इलाहाबाद

लेज़र कम्पोजिंग

निओ सॉफ्टवेयर कन्सल्टैंट्स

907, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद

मुद्रक

एडवांस क्रिएटिव सर्विसेज़

इलाहाबाद - 211003

मूल्य

तीस रुपया

शेखर : एक जीवनी
विविध आयाम

"आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः"

Let noble thoughts come to us from every side

—*Rigveda*

लेखक मण्डल

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ... 19
शेखर : व्यक्तित्व का नया आयाम

डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर ... 31
शेखर के विद्रोह का स्वरूप

डॉ० गिरिराज किशोर ... 38
सामाजिक विद्रोह का शिखर चरित्र—शेखर

डॉ० रमेशचन्द्र शाह ... 45
शेखर : एक जीवनी : : एक मूल्यांकन

डॉ० भोलाभाई पटेल ... 51
शेखर : एक जीवनी—दृष्टिकोण

डॉ० रघुवंश ... 59
शेखर : एक जीवनी का रचनात्मक आयाम

डॉ० गोपालराय ... 71
'शेखर : एक जीवनी' : : वस्तु एवम् शिल्प

डॉ० युगेश्वर ... 88
शेखर : एक जीवनी की भाषा

डॉ० ओम प्रभाकर ... 95
शेखर : एक जीवनी : : मूल्य और उपलब्धि

डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र ... 103
शेखर एक जीवनी : परम्परा, तकनीक और उपलब्धि

डॉ० राजेन्द्र कुमार ... 115
शेखर : मनोविश्लेषण की सोद्देश्यता

डॉ० रामकमल राय ... 121
शेखर में अज्ञेय

विषयानुक्रम

1.	भूमिका	...	9
2.	शेखर : व्यक्तित्व का नया आयाम	...	19
3.	शेखर के विद्रोह का स्वरूप	...	31
4.	सामाजिक विद्रोह का शिखर चरित्र—शेखर	...	38
5.	शेखर : एक जीवनी : : एक मूल्यांकन	...	45
6.	शेखर : एक जीवनी—दृष्टिकोण	...	51
7.	शेखर : एक जीवनी का रचनात्मक आयाम	...	59
8.	'शेखर : एक जीवनी' : : वस्तु एवम् शिल्प	...	71
9.	शेखर : एक जीवनी की भाषा	...	88
10.	शेखर : एक जीवनी : : मूल्य और उपलब्धि	...	95
11.	शेखर एक जीवनी : परम्परा, तकनीक और उपलब्धि	...	103
12.	शेखर : मनोविश्लेषण की सोद्देश्यता	...	115
13.	शेखर में अज्ञेय	...	121
14.	लेखकों का संक्षिप्त परिचय	...	125

भूमिका

'शेखर एक जीवनी' पर एक समीक्षात्मक पुस्तक संपादित करने का प्रस्ताव जब मुझे मिला था तो पहली और दृढ़ प्रतिक्रिया हिचक की ही हुई। 'शेखर एक जीवनी' को जब पहले-पहल पढ़ा था तब से लेकर आज तक जब-जब उसे पढ़ा तब-तब बराबर मन में यही भाव बनता रहा कि उस पुस्तक में निहित सृजन को कभी भी छिन्न-भिन्न करके टुकड़े-टुकड़े में नहीं देखा जा सकता। यह एक ऐसी समग्र अनुभूति संपन्न प्राणवान् कृति है कि जहाँ भी छुओ अनुभूति का एक गहरा स्पर्श मिलता है और इसकी समग्रता इतनी अखंडनीय है कि इसे पूरा का पूरा ही पढ़ा और महसूस किया जा सकता है। इसके सारे तत्त्व एक दूसरे में इस प्रकार अनुस्यूत हैं कि इसके अलग-अलग आयामों को अलग-अलग करके जाँचना-परखना कृति की प्राणवत्ता को गहरी चोट पहुँचाना है। यह मेरा भाव तब तक अक्षुण्ण रहा जब तक मैं विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य का प्राध्यापक नहीं हो गया। संयोगवश जिस विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हुआ वहाँ 'शेखर एक जीवनी' को एम॰ ए॰ की कक्षाओं में पाठ्य-पुस्तक के रूप में पढ़ाया जाता था और वहीं से शुरू हुई वह यातनामयी प्रक्रिया कि शेखर को विभिन्न कोणों से टुकड़े-टुकड़े में बाँट-बाँट कर देखना और परखना एक अनिवार्य विवशता बन गई। प्रतिवर्ष 'शेखर : एक जीवनी' पर छात्रों से अलग-अलग पक्षों को लेकर परीक्षा में प्रश्न पूछे जाते और उन्हीं के प्रकाश में छात्रों के बीच अध्यापकीय विवेचनों का क्रम चलता। निश्चय ही इन सबके बीच मेरे भीतर शेखर का जो एक समग्र घनीभूत अनुभूति संपृक्त व्यक्तित्व रहा है, क्षरित और खंडित हुआ और आज जब उसी विवेचन को न केवल कई कोणों से बल्कि कई समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत किए जाने की स्थिति आ पहुँची है तो वह यातना की अनुभूति और सघनतर ही हुई है। इसका यह अर्थ नहीं कि शेखर को जितना मैं समझता हूँ दूसरे नहीं समझते। अभिप्राय मात्र इतना है कि यह शेखर पर चिपकाया गया समीक्षाओं का कोलाज उसके आंतरिक व्यक्तित्व को पाठक तक संप्रेषित करने में कितना सहायक होगा। इस संशय और इस अनाश्वस्ति की पीठिका पर खड़े होकर ही मैं इस कृति को, जो कृति तो कम, और एक संहिता अधिक है—पाठक के सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। इस प्रस्तुतीकरण में मेरी मुद्रा निश्चय ही एक क्षमाप्रार्थी की मुद्रा है। इतना ही नहीं एक अपराधबोध भी है। क्योंकि मन में बार-बार भीतर से एक दुर्निवार पुकार भी उठी है कि पाठक से प्रार्थना की जाय कि वह इस पुस्तक की जगह 'शेखर : एक जीवनी' को ही गहराई से पढ़े। वही शायद शेखर के साथ सबसे बड़ा न्याय होगा, किन्तु विडम्बना यह है कि पाठक को केवल 'शेखर : एक जीवनी' की प्राणवत्ता को ही अपने भीतर नहीं उतारना है बल्कि उसे अपने जीवन व्यापार में परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण करनी हैं। प्रतियोगिताएँ भी झेलनी हैं और वहीं इस पुस्तक की या ऐसी पुस्तकों की उपयोगिता या अर्थवत्ता का एक आधार बनता है।

'शेखर एक जीवनी' की भूमिका अपने आप में इतनी महत्त्वपूर्ण है कि जाने-अनजाने अब तक की गयी शेखर पर सारी समीक्षाओं के बीज या मूल सूत्र भूमिका में से ही निकले या निकाले गए हैं। इस भूमिका का पहला ही वाक्य है—"वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना में है, वह द्रष्टा हो सकता है।" हजारों पंक्तियाँ इस एक वाक्य की व्याख्या में लिखी गयी होंगी, किन्तु स्वयं शेखर : एक जीवनी के भीतर जो यातना का वेगवान प्रवाह बह रहा है, उसमें अवगाहन करने की जरूरत इन लेखकों और समीक्षकों को कम ही महसूस हुई, जबकि सच्चाई यह है कि पूरी कृति वेदना के रस में ही आपादमस्तक डूबी हुई है। 'शेखर एक जीवनी' का प्रत्येक पात्र और उसका प्रत्येक अनुभव यातना में ओत-प्रोत है। वह यातना ही शेखर की सृजनधर्मिता, उसकी भीतरी ईमानदारी और आत्मान्वेषण का सबसे विश्वसनीय संबल है। शेखर जब-जब अपने भीतर बहुत गहरे उतरता है तो यातना के एक भँवर में पड़कर ही वह अपना अन्तर्मन्थन करता है। जब-जब उसे जीवन के किसी सत्य का साक्षात्कार होता है, हर बार वह एक गहरी पीड़ा में डूब कर ही होता है। उसके प्रेम में यातना है, उसकी क्रांति में यातना है। उसका व्यष्टि और समष्टि-बोध पूरा का पूरा यातना से ही आवृत्त है और अनुभव की इस गहरी नींव पर खड़े होकर ही वह कह सका है कि 'वेदना में एक शक्ति होती है जो दृष्टि देती है।'

इसी प्रकार शेखर की भूमिका में यह कहा गया है कि—"घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए 'विजन' को शब्दबद्ध करने का प्रयास है।" समीक्षकों ने इस 'विजन' को पकड़ने की और इसे रूपायित करने की बेइन्तहा कोशिश की है, किन्तु सचमुच वह 'विजन' अपने मूल रूप में क्या और कैसा था इसे जान पाने का कोई प्राथमिक आधार पाठक या समीक्षक के पास नहीं है, क्योंकि उस विजन को भाषा और रूप देने का प्रयास इतना लंबा और परिवर्तनशील रहा है कि यह कहना कठिन है कि जो कृति हमारे सामने है उसमें उस मूल विजन का कितना अंश किस रूप में शब्दबद्ध हो सका है। क्योंकि यह तो निर्विवाद है कि निश्चित मृत्यु की संभावना में देखे गए अपने पूर्व जीवन को निबद्ध करने की पहली कोशिश उस सीमा तक सर्जनात्मक नहीं रही होगी जितनी तथ्यपरक और आत्मघटित को आकार देने की। वह रात तो निश्चय ही शेखर के लिए ऐसी अमूल्य और अर्थवती रात रही होगी जिसमें उसकी अदम्य प्रेरणा यही रही होगी कि वह जो कुछ भी था जैसा भी था अनदेखा न रह जाय। उसके भीतर कहीं न कहीं यह अटूट विश्वास था कि वह अपनी सारी अपूर्णताओं, नाकामियों और विरोधाभासों के बीच एक दुर्निवार जीवनी शक्ति वाला व्यक्ति रहा है। उसकी प्रेरणाएँ, उसके प्रयास, उसके अनुभव कहीं न कहीं कम-से-कम इतना अर्थ अवश्य रखते हैं कि उन्हें पूरी ईमानदारी और सच्चाई से दुनिया के सामने, समाज के सामने रखा जा सके। उसे विश्वास था कि उसका जीवन अपनी सारी निजता में भी कहीं न कहीं एक गहरा सामाजिक अर्थ रखता है। इसीलिए वह यह कह सका है कि शेखर जहाँ एक व्यक्ति का निजी-अभिन्नतम दस्तावेज है वहीं उस व्यक्ति के युग-संघर्ष का प्रतिबिम्ब भी है। इसलिए इस विजन को अपने प्रथम रूपाकार में जिस प्रकार उसने लिपिबद्ध किया होगा और अनेक बार संशोधित और परिवर्धित करके एक उपन्यास के रूप में इसको प्रकाशित किया गया—इन दोनों स्थितियों में पर्याप्त अन्तराल है। इसलिए यह प्रश्न हमेशा बना रहेगा कि शेखर का मूल विजन (Vision) किस प्रकार का था।

शेखर पर लिखे गए अनेक लेखों और पुस्तकों में भूमिका में दिए गए इन सूत्रों का इतना आलोड़न किया गया है कि उनसे निकल कर मूल कृति को पढ़ने और उसे आत्मसात् करने में

बाधा भी पड़ी है। यह सच है कि भूमिका के इन सूत्रों में 'शेखर : एक जीवनी' को समझने का एक आधार मिलता है किन्तु ये सूत्र ही पाठक की दृष्टि को कहीं न कहीं सीमित भी करते हैं। इसी प्रकार भूमिका में ही यह भी कहा गया कि शेखर एक जीवनी के बारे में यह सवाल अवश्य उठेगा कि क्या यह एक आत्मकथा है। इस पक्ष को लेकर भी बहुत कुछ लिखा गया है। अज्ञेय ने स्वयं इस पक्ष को एक हद तक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि शेखर के बचपन के बहुत से अंश, बहुत सी घटनाएँ, बहुत से स्थान अज्ञेय के अपने जीवन-संदर्भों से लिए गए हैं। ऐसा उन्होंने उपन्यास में प्रामाणिकता और विश्वसनीयता ले आने के लिए किया है। उनका कहना है कि जैसे-जैसे शेखर अपने जीवन क्रम में आगे बढ़ता है उसका व्यक्तित्व स्वतंत्र होता जाता है। वह अज्ञेय के व्यक्तित्व से तो अलग होता ही जाता है अज्ञेय के हाथों और नियंत्रण से भी अलग होता जाता है क्योंकि वह एक ऐसा चरित्र बन कर उभरता है जो लेखक के हाथ की कठपुतली बनकर नहीं रह सकता। अज्ञेय यह भी कहते हैं कि शेखर जहाँ तर्क की विकृतियाँ पेश करता है वह उसी की हैं लेखक की नहीं। यहीं पर अज्ञेय इलियट के इस कथन को जोड़ते चलते हैं कि भोगने वाले व्यक्ति और रचने वाले कलाकार के बीच एक पार्थक्य होता है और रचनाकार जितना ही बड़ा होता है यह पार्थक्य भी उतना ही बड़ा होता है। किन्तु वह लगे हाथ यह भी स्वीकार करते हैं कि इलियट का यह आदर्श उनसे चरितार्थ नहीं हो सका है। उन्होंने यह भी लिखा है एक बड़ा लेखक केवल आत्मघटित के ही आधार पर अपनी कथावस्तु का ढाँचा नहीं तैयार करता। वह परघटित को भी आत्मानुभूति बनाकर अपनी रचना में अभिव्यक्त कर सकता है। अज्ञेय के कथनों को एक सीमा तक ही हम शेखर के संदर्भ में स्वीकार सकते हैं; क्योंकि शेखर के शरीर के विभिन्न अवयवों की पहचान का प्रश्न नहीं है। प्रश्न है शेखर की प्राणवत्ता की पहचान का। वह केन्द्रीय अनुभूति धारा जो शेखर एक जीवनी में प्रारंभ से अंत तक प्रवहमान है वह किस व्यक्ति की है ? क्या वह व्यक्ति शेखर, अज्ञेय से सचमुच इतना अलग है या हो सकता है ? जीवन के जिस मोड़ पर खड़े होकर शेखर एक जीवनी की रचना निष्पन्न होती है वहाँ यह पार्थक्य क्या बहुत दूर तक जा सकता है ? मैं यह मानता हूँ कि स्थूल धरातल पर घटनाओं और स्थितियों में शेखर और अज्ञेय में सचेत होकर एक अलगाव बनाया जा सकता है और वह बनाया भी गया है, किन्तु "शेखर : एक जीवनी" की वास्तविक शक्ति इसकी सघन अनुभूति में ही निहित है और वह अनुभूति जिन सम्बन्धों के भीतर से प्रस्फुटित हुई है वे सम्बन्ध निश्चित रूप से 'शेखर : एक जीवनी' के लेखक के अपने निजी जीवन से ही निस्सृत हुए हैं।

भूमिका में ही एक बात यह भी कही गयी कि 'शेखर : एक जीवनी' तीन भागों में विभक्त है और प्रत्येक भाग अलग-अलग एक अर्थ में स्वतंत्र होते हुए भी एक समग्र उपन्यास के अनुक्रमिक हिस्से हैं इसलिए इनमें एक एकान्तता है और सब मिलकर एक संदेश भी देते हैं और एक दृष्टि भी। विडंबना यह है कि शेखर का तीसरा भाग अज्ञेय प्रकाशित नहीं कर सके। अपने जीवन काल में उन्होंने कई बार यह आभासित किया कि वे तीसरे भाग को प्रकाशित करने वाले हैं किन्तु ऐसा हो नहीं सका। सच बात तो यह है कि जिस फाँसी की निश्चित संभावना की छाया में शेखर अपने जीवन का प्रत्यवलोकन करता है वह फाँसी स्वयं अज्ञेय के जीवन में एक निश्चित संभावना के रूप में उभर कर आई थी जो घटित हुए बिना ही उनके जीवन से फिसल गई। बहुत बार बहुत स्रोतों से यह कहा गया कि अज्ञेय शेखर के तीसरे भाग के अन्तिम चरण में शेखर को फाँसी के फन्दे तक पहुँचा देते हैं, किन्तु यह कथन किम्वदन्ती ही बन कर रह गया।

यहीं पर मुझे बार-बार ऐसा लगा है कि अज्ञेय के लिए यह संभव नहीं था कि जो फाँसी का फन्दा उनके गले में लगने वाला था और जो नहीं लग सका उसे वह अपने प्रतिरूप शेखर के गले में कस देते। ईमानदारी की बात यही है कि शेखर की पूरी कथा और पूरा उपन्यास उतना ही था, जितना कि वह दो भागों में लिखा गया। असल में उपन्यास के अंत को शेखर के अंत में नहीं ढूँढ़ना चाहिए। उपन्यास का अंत तो शशि के अंत में है। उपन्यास का प्राण भी शशि में ही बसता है। सच बात तो यह है कि अज्ञेय का प्रतिनिधि चरित्र और अज्ञेय की बातें अपने में धारण करने वाली शेखर से ज्यादा शशि है। शेखर तो प्रायः अधूरा है। जिज्ञासाओं, संशयों और शंकाओं से भरा हुआ। उसे संपूरित और आप्तकाम, सृजनशील और कर्मोन्मुख तो शशि बनाती है। जिस विन्दु पर शशि का प्राणान्त होता है, उपन्यास वहीं समाप्त हो जाता है। यह दूसरी बात है कि शशि मरकर भी नहीं मरती है और शेखर में जीती है; किन्तु उपन्यास को शशि की मृत्यु के बाद आगे बढ़ाना लेखक के लिए संभव नहीं था। शेखर के अस्तित्व की अन्तःसलिला ही मृत्यु के सागर में विलीन होकर उपन्यास-यात्रा को अवसान तक पहुँचा देती है। मैं नहीं समझता इस दृष्टि से कभी उपन्यास के अंत को समझा या देखा गया हो, किन्तु यह एक आवश्यक संदर्भ है। शेखर अपना सारा वेग और सामर्थ्य शशि से ही प्राप्त करता है। इसलिए शेखर की कहानी शशि की कहानी के बाद उसी प्राणवत्ता के साथ चलाई ही नहीं जा सकती थी। यहीं पर एक बात और कहना समीचीन होगा। अज्ञेय अपने उपन्यासों में केन्द्रीय नारी चरित्रों को केन्द्रीय पुरुष चरित्रों की तुलना में अधिक परिपूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं। जैसे शेखर की शंकाओं का समाधान शशि करती है वैसे ही आगे चलकर हम देखते हैं कि "नदी के द्वीप" में भुवन की शंकाओं का समाधान रेखा करती है। अज्ञेय की रचनात्मक प्रेरणा को लेकर कई बार यह संकेत किया गया है कि उनकी सर्जनात्मक ऊर्जा मूलतः प्रेम की है। इसे एक अर्थ में ठीक माना जा सकता है, किन्तु तब जब उसे एक व्यापक रूप में पहचाना जाय और उसी संदर्भ का एक आयाम यह है कि अज्ञेय के नारी चरित्र अधिक दृष्टि-संपन्न, अधिक मानवीय गुणों से परिपूर्ण और गहरे हैं। वे ही अपने पुरुष सहयात्री को शक्ति और संबल देते हैं। सृजनशील और कर्मनिष्ठ बनाते हैं। इस दृष्टि से 'शेखर : एक जीवनी' में शशि का आत्यंतिक महत्त्व है। न केवल यह कि शशि के अंत के साथ उपन्यास का अंत होता है बल्कि उपन्यास का प्रारंभ भी एक प्रकार से शशि के स्मरण से ही होता है। शेखर जब अपने जीवन की मूल्यवत्ता की तलाश में प्रत्यवलोकन के पहले क्षण का सृजन करता है तो सबसे पहले उसकी स्मृति में शशि ही कौंधती है—"सबसे पहले तुम, शशि। इसलिए नहीं कि तुम जीवन में सबसे पहले आई या कि तुम सबसे ताजी स्मृति हो। इसलिए कि मेरा होना अनिवार्य रूप से तुम्हारे होने को लेकर है—ठीक वैसे ही जैसे तलवार में धार का होना सान की पूर्व कल्पना करता है। तुम वह सान रही हो, जिस पर मेरा जीवन बराबर चढ़ाया जा कर तेज होता रहा है—जिस पर मँज-मँज कर मैं कुछ बना हूँ, जो संसार के आगे खड़ा होने में लज्जित नहीं—लज्जित होने का कोई कारण नहीं जानता।"[1]

शशि शेखर के लिए सबसे प्रथम, सबसे आप्लवनकारी एवं सबसे पुनीत स्मृति है। पूरे उपन्यास में जो गहराई, सघनता एवं अनुभूति की तीव्रता है, उसके पीछे भी शशि एवं शेखर के सम्बन्ध ही विभिन्न संदर्भों में झाँकते हैं। जैसा ऊपर कहा गया उपन्यास का अंत शशि के अंत के साथ ही होता है। यहीं साफ लगता है कि शशि के अवसान के बाद शेखर को आगे कुछ

1. शेखर : एक जीवनी—प्रवेश पृ० 4

कहना नहीं है। सारा कथन चुक जाता है शशि के साथ ही। यदि उपन्यास, या कहें जीवनी, लिखने की दुर्निवार प्रेरणा फाँसी की अवश्यंभाविता से होती है तो उस लेखन प्रक्रिया को बाँधने वाली, उसमें जीवन रस का संचार करने वाली तथा रचना के शरीर में प्राणप्रतिष्ठा करने वाली अनुभूति शशि और शेखर के बीच की प्रणयानुभूति ही है। शेखर के लिए शशि प्रारम्भ से ही एक चुनौती है।

शशि हर मोड़ पर शेखर से बड़ी दिखती है, शेखर को भी तथा पाठक को भी। मौसी के साथ आई हुई शशि को शेखर अपने निकट बचपन में ही अपने पौरुष के दर्प से लोटे से आहत कर देता है। सिर से खून बहते देखकर जब माँ कारण पूछती है तो शशि बहाना बनाती है कि गिरने से चोट आ गयी है। शेखर की पहली पराजय होती है। शशि के शिशु व्यक्तित्व की शालीन गरिमा से शेखर अभिभूत हो उठता है। उसके मन में एक पूजा-भाव अंकुरित होता है। खाना खाते समय शेखर शशि को ग्लास में पानी भर कर पहुँचाता है और शशि चुपचाप उसे स्वीकार करके शेखर को कृतज्ञता से भर देती है। यह प्रारंभ है उस ज्वलंत सम्बन्ध का, जिसे पहचानने में, आत्मसात् करने में शेखर का सब कुछ दाँव पर लग जाता है।

शेखर और शशि के सम्बन्ध समाज के लिए तो अग्राह्य थे ही किन्तु स्वयं उन्हें भी उस सम्बन्ध की आत्यंतिक अनिवार्यता की अनुभूति धीरे-धीरे और कई स्तरों में होती है। आखिरकार शशि शेखर की मौसी की बेटी थी यानी मौसेरी बहन जो अन्ततः बहन ही तो है। शेखर उस सम्बन्ध को लेकर बराबर एक उधेड़बुन की स्थिति में रहते हुए अपने हृदय की गहराइयों में उतरता चला जाता है और हर स्तर पर उसे नयी अनुभूति मिलती है, सम्बन्ध की नयी पहचान मिलती है। अभी वह थोड़ी ही गहराई में उतरा होता है जब उसे लगता है—"वह उसकी सगी बहन नहीं है, पर सम्बन्ध से यदि कोई अन्तर भी जान पड़ता तो दूरी का नहीं बल्कि और अधिक समीपत्व का, एक निर्बाध सखा भाव का। वह भाव जैसे प्रातःकालीन शारदीय धूप की तरह है, जिसमें वह उस घर की ही नहीं, अपने अंतर की भी छायाओं को सुला देता है"।[1]

शेखर ने जिस निर्बाध सखा-भाव की अनुभूति से अपने को भींगते हुए पाया वह क्रमशः गहरी ही होती गयी।

मैट्रिक की परीक्षा के लिए जब शेखर काफी दिनों के पश्चात् लाहौर जाता है और उसकी भेंट मौसी विद्यावती और शशि से होती है तो लोटे की चोट से जुड़ने वाली शशि पुनः शेखर के लिए जीवन्त हो उठती है—"जो उसके साथ खेलती नहीं थी, पर, उसकी सखी बनती जा रही थी।" यह सख्य अपरिभाषित रूप से शेखर के जीवन का केंद्रीय सत्य बनता जा रहा था। शेखर का वेगवान व्यक्तित्व उस समय के देश और काल से गहराई से जुड़ा हुआ होता है। इसी क्रम में कांग्रेस सम्मेलन में जब शेखर को एक पुलिस इंस्पेक्टर को मारने-पीटने के आरोप पर गिरफ्तार किया जाता है और शशि उससे भेंट करने जेल में जाती है और पूछती है कि क्या शेखर उस कार्य में शामिल था तो शेखर गंभीरता से उत्तर देता है,

"नहीं।"

पुनः वह शशि से पूछता है :

"क्यों, शशि ? तुम्हें तसल्ली हुई क्या ?"

1. शेखर : एक जीवनी—प्रवेश प्रथम भाग पृ० 18

"कैसी तसल्ली ?"

"कि मैं निर्दोष हूँ ?"

"उं-हाँ, कुछ तो हुई ही—"

"क्यों, अगर मैं अपराधी होता तो ?"

"तब भी तसल्ली होती; मैं जानना चाहती थी। तुम्हारी बात जान लेने से ही मुझे संतोष हो जाता है, डर नहीं होता।"[1]

शशि के इस अटूट विश्वास से शेखर का मन विभोर हो ही रहा था कि चलते-चलते शशि कह उठती है—'वीर कभी अपराधी नहीं होते।' रोमांच हो आता है शेखर को, उसके मन में कुछ नया घटित हो आता है। इस नए भाव को पहचानने की वह कोशिश करता है। शशि से अपने संबध को वह परिभाषित करना चाहता है। इसी क्रम में वह सरस्वती और शशि के अंतर को देखना और पहचानना चाहता है ताकि वह शशि को एक भिन्न धरातल पर अपना सके। वह कहता है : 'सरस्वती तो थी ही। शेखर ने होश संभालने के समय से ही उसको अपने आसपास देखा था। पर, शशि मानो उसकी अपनी खोज का परिणाम थी, असंख्य प्राणियों के उस उलझे संसार में उसने एक को खोज निकाला था, अपने स्नेह के दायरे में बिठाने के लिए, वह बहिन, यानी अपनी होकर भी नयी, कुछ अपरिचित, कुछ आयास सिद्ध थी।...जैसे उसे अपनाने के लिए हमेशा सतर्क रहना पड़ता था...नहीं, यह बात नहीं थी...वह नहीं समझ सकता था कि क्या बात थी..."[2] यह अंतिम ध्वनि शेखर की मनःस्थिति पर पूरा प्रकाश डालती है। सचमुच यह अपने संस्कार और समाज की मान्यताओं के बीच में से शशि को एक नूतन आधार देने की अकथ व्यथा में ऊब-डूब रहा है, दूसरी ओर शशि जैसे इस सम्बन्ध को अधिक स्पष्टता और गहराई से पहचानती है और स्वीकार कर लेती है। संस्कार एवं समाज के बंधन शशि पर कम प्रभावी हैं, यद्यपि वह मुखर रूप से कहीं उनका प्रतिवाद नहीं करती।

शशि और शेखर का यह सम्बन्ध कई मोड़ों से गुजरता हुआ उस त्रासदी तक पहुंचता है जहाँ वह शेखर की होकर भी नहीं रहती। उसका अनचाहा विवाह किसी और के साथ हो जाता है जहाँ उसे न विश्वास मिलता है न प्रेम, न पत्नीत्व। यातना और अपमान में डूबी हुई शशि का प्रत्यावर्तन शेखर के ही पास होता है। इसके बाद शशि की छाँह शेखर के लिए सप्तपर्णी की छाँह बन जाती है। शशि अपने पति के हाथों पिटती है, परित्यक्त होती है, शेखर के साथ रहने लगती है और प्रेम के समीर का संस्पर्श उनके जीवन को शीतल करने लगता है, किन्तु, संघर्ष के थपेड़ों ने शशि को शारीरिक स्तर पर पूरी तौर पर तोड़ दिया है। वह क्रमशः मृत्यु की ओर बढ़ती जा रही है, किन्तु जहाँ एक ओर वह शरीर से क्षीण होती जा रही है वहीं मन और आत्मा से अधिक दीप्तिमान।

शेखर अब भी आत्मा और शरीर के द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो पाया है, किन्तु शरीर से पूरी तौर पर चुकी हुई शशि एक वेगवान क्षण में शेखर को अपने पास बुलाती है और बिना एक शब्द कहे अपनी ठोड़ी उठाती है। "क्षण भर शेखर कुछ नहीं समझता, फिर एक बाढ़ उसके भीतर उमड़ आती है, और वह उठे हुए अर्धमुकुलित होंठों की ओर झुकता है—झुकते-झुकते उसकी आप्लवनकारी आतुरता ही उसे संयत कर देती है, एक वत्सल कोमलता उसमें जागती है

1. शेखर : एक जीवनी—प्रवेश दूसरा भाग पृ० 58
2. वही, प्रवेश दूसरा भाग पृ० 60

कि बेले के अधखिले संपुट को स्निग्धतम स्पर्श से ही छूना चाहिए, और होंठों के निकट पहुँचते-पहुँचते वह ग्रीवा कुछ मोड़कर अपना कर्णमूल शशि के होठों से छुआ देता है। होंठ तप्त हैं—ज्वर से, उस रोमिल स्पर्श से एक सिहरन-सी उसके माथे में दौड़ जाती है तब चेतना की एक नयी लहर से बाधित वह फिर झुकता और शशि के स्निग्ध, स्तब्ध, किन्तु बेझिझक ओंठ चूम लेता है—निर्द्वन्द्व, वरद, दीर्घ चुम्बन...."[1]

यही वह चरम अनुभूति का क्षण है जहाँ शेखर पहुँचने को न जाने कब से विकल था, किन्तु जहाँ उसे हजार-हजार दीवारें रोक रही थीं। भीतर से और बाहर से। यहाँ पहुँचने के बाद शशि ने जो कहा था वह कथन शेखर को और भी चरम निर्द्वन्द्वता की जमीन पर खड़ा कर देता है : "तुमने जो दिया है उसमें लज्जा नहीं है, वह वरदान है, यह मैं भी बिना लज्जा के देखती हूँ। वरदान में अस्वीकार का विकल्प नहीं होता।"[2]

शेखर : एक जीवनी का मेरुदंड का यह पावन प्रणय ही है। इस घनीभूत प्रणय आख्यान में ही इस कृति की अपनी अनेक विशिष्टताएँ घुली हुई हैं। इस प्रणय आख्यान में दुःख के आँवे में तप कर शेखर तो कंचन बनता ही है। शशि शरीर से विसर्जित हो जाते हुए भी शेखर की प्राणदीप्ति बन जाती है। शशि का विसर्जन इतना अनूठा है, इतना प्रेरणादायक है कि कहीं भी किसी स्तर पर भी उसमें निष्फल होने की किंचित मात्र अनुभूति नहीं है।

शेखर : एक जीवनी में शेखर के व्यक्तित्व के कई आयाम उभरते हैं। उसकी घोर ईमानदारी, उसका विद्रोही स्वभाव, उसकी क्रांतिकारिता, उसके भीतर सदा प्रवहमान उसकी रचनाधर्मिता, उसका उत्सर्ग भाव, समाज के प्रति उसका गहरा दायित्वबोध, उसकी संकल्प शक्ति और उसके दुर्निवार आग्रह—यह सब कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं और इन सबको लेकर बहुत कुछ सोचा-विचारा और लिखा गया है। किन्तु इस विचारणा और चिंतन के क्रम में जो महत्त्वपूर्ण बात दृष्टि से ओझल हो जाती रही है, वह है इन सारे तत्त्वों का 'शेखर : एक जीवनी' की संरचना में इस प्रकार संगुंफित या अनुस्यूत होने की पहचान कि इन पर अलग-अलग ढंग से विचार संभव ही नहीं हो सके। फिर भी इस पुस्तक की योजना में भी वही पद्धति अपनाई गई है और अलग-अलग पक्षों पर अलग-अलग अध्यायों में अलग-अलग लेखकों द्वारा विचार प्रस्तुत किया गया है। यह एक प्रकार की विवशता है जिससे मुक्ति संभव ही नहीं है। इससे मुक्ति का एक ही रास्ता है जैसा प्रारम्भ में ही संकेत किया गया है कि बार-बार 'शेखर : एक जीवनी' को भी अपनी समग्रता में आत्मसात् किया जाय।

शेखर का विद्रोह विशेषकर आलोचकों की चिन्ता का विषय रहा है। किसी ने इस विद्रोह को उसकी क्रांतिकारिता से जोड़कर देखा है, किसी ने इस विद्रोह को माँ से मिले हुए अविश्वास का प्रतिफल माना है, किसी ने इसे अज्ञेय की अतृप्त यौन-कामना को व्यंजित करने वाला माना है। स्वयं लेखक ने अपने विद्रोह को इस रूप में रेखांकित किया है कि 'विद्रोही बनते नहीं पैदा होते हैं।' 'शेखर : एक जीवनी' को पढ़ते समय शेखर के विद्रोही स्वभाव को व्यंजित करने वाली कुछ घटनाओं और स्थितियों का गहराई से अनुशीलन करने पर एक बहुत साफ सच्चाई उभर कर आती है और वह सच्चाई यह है कि शेखर एक सच्चे आचरण का ईमानदार और संकल्पवान बालक है जिसके भीतर एक मूल्य दृष्टि का और मूल्यानुभूति का विकास हो रहा है।

1. शेखर : एक जीवनी—प्रवेश दूसरा भाग पृ० 242
2. वही, दूसरा भाग पृ० 169

जहाँ कहीं और जिस स्थिति में उसकी इस सच्चाई पर अथवा मूल्यानुभूति पर चोट पहुँचाई जाती है, वहीं वह विद्रोही बनकर फुफकार उठता है। उदाहरण के लिए सन् 1919 में जलियाँवाला बाग की घटना हो चुकी थी जिसकी गूँज पूरे भारत में फैल चुकी थी। शेखर अपने माता-पिता के साथ जलियाँवाले बाग की यात्रा कर चुका था। उस बर्बर गोलीकांड का, जिसके द्वारा सैकड़ों भारतीय मौत के घाट उतार दिए गए थे और हजारों खून में लथपथ हो चुके थे, उसने निकट से अनुभव किया था। अंग्रेज-जाति के प्रति उसके मन में एक तीव्र घृणा और आक्रोश का भाव बन चुका था। इसीलिए जब उसको एक अंग्रेज ट्यूटर के द्वारा पढ़ाया जाता है तो वह इस रचनात्मक तुकबंदी को पेश करता है—

My teacher's name is Mr. Gass

If 'G' is gone, he is an ass !

इस तुकबंदी के कारण वह अपने पिता के हाथों पिटता है किन्तु कहीं-न-कहीं से उसे संतोष भी होता है कि उसने अंग्रेज के बारे में अपनी धारणा भी साफ-साफ व्यक्त कर दी है। इसी तरह की घटना थुक्कू मास्टर वाली है। अध्यापक की जो छवि शेखर के मन में है वह एक शालीन और सुसंस्कृत व्यक्ति की छवि है, एक ऐसे व्यक्ति की नहीं जो मुँह में सुर्ती डालकर मिनट-मिनट पर अपने चारों ओर थूकता फिरे। वह अपने आक्रोश को ज़ज़्ब नहीं कर पाता और चिल्ला पड़ता है : "थुक्कू मास्टर !" वह फिर पिटता है परंतु इससे क्या उसने अपने आक्रोश और नापसंदगी को जाहिर कर दिया। इसी प्रकार शेखर जब बहुत छोटा होता है और क्रमशः एक के बाद एक उसके दूसरे भाइयों का जन्म होता है तो वह जानना चाहता है कि ये भाई इस संसार में कहाँ से आए, किस प्रकार आए। वह माँ से पूछता है और झूठा उत्तर पाता है। बहन सरस्वती से पूछता है जिस पर उसे अटूट विश्वास है किन्तु वहाँ से भी सच्चाई से साक्षात्कार नहीं हो पाता। अन्ततः एक निकृष्ट स्त्री के द्वारा उसे सच्चाई का पता चलता है और फिर वह नफरत से भर उठता है। माँ के प्रति, बहन के प्रति, सभ्य कहे जाने वाले सारे संसार के प्रति उसके मन में विद्रोह भर उठता है। इन सभी प्रसंगों का विश्लेषण करने पर एक ही बात सामने आती है कि शेखर सच के प्रति समर्पित है। उसमें एक प्रखर राष्ट्रभक्ति के तत्त्व अंकुरित हो चुके हैं। उसमें एक मूल्य-दृष्टि विकसित हो रही है और इन चीजों का क्षरण उसे सह्य नहीं है।

इसी क्रम में शेखर की क्रांतिकारिता पर विचार करना ठीक होगा। जो लोग यह कहते अघाते नहीं हैं कि शेखर में क्रांतिकारी अनुभवों का चित्रण तुर्गनेव के एक औपन्यासिक रचना के प्रभाव में किया गया है उन्हें यह समझाना मुश्किल है कि अज्ञेय स्वयं क्रांतिकारी जीवन में पूरी तौर पर उतर चुके थे। क्रांतिकारी के अनुभव को उन्हें कहीं से लेने की जरूरत नहीं थी। यह तथ्य सर्वविदित है कि उनकी कहानियों में पहले दौर की कहानियाँ उनके क्रांतिकारी जीवन के अनुभवों से अभिसिंचित हुई हैं। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि शेखर के क्रांतिकारी जीवन के विकास में अज्ञेय के रचनात्मक अनुभव और उनकी कल्पनाशीलता का भी अवश्य योगदान रहा है। और चूँकि अज्ञेय उस दौर में पश्चिमी साहित्य के गहरे अध्ययन क्रम से गुजर रहे थे इसलिए परोक्ष रूप से उस अध्ययन की अनुगूँजें यत्र-तत्र सुनी जा सकती हैं। अज्ञेय ने क्रांतिकारी जीवन को एक अर्थ में एक नियतिवाद से जोड़ने का प्रयास किया है। किन्तु वहीं पर वे बहुत स्पष्ट स्वरों में यह चेतावनी भी देते हैं कि यह नियतिवाद कोरा भाग्यवाद नहीं है जो किसी व्यक्ति को अकर्मण्य या निष्क्रिय बनाता है। यह एक प्रकार का विज्ञान-सम्मत तर्क पर

आधारित कार्य-कारण परंपरा की स्वीकृति है। जो व्यक्ति को और कठोरता और निर्ममता से कर्मनिष्ठ बनाती है।

शेखर के चरित्र को भी प्रायः सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा गया है। वह एक आग्रही व्यक्ति है, धुन का पक्का है। सच्चे आचरण वाला है, ईमानदार है और जहाँ एक ओर राष्ट्र और समाज के लिए पूरी तौर पर समर्पित है वहीं अपने अंतर के सत्य के प्रति भी उतनी ही गहराई से निष्ठावान और समर्पित है। उसका चरित्र सामान्य नहीं है। इसलिए सामान्य कसौटियों पर उसे कसा भी नहीं जा सकता। वह ईमानदार इतना है कि अपने जीवन में उतरने वाली प्रत्येक नारी को अपने प्रत्यवलोकन के क्रम में अपने सम्बन्ध की परिधि में यथोचित स्थिति में रखकर देखता है और मजे की बात यह है कि उपन्यास में 'प्रवेश' में वह उनके क्रम को भी निर्धारित कर देता है। सबसे पहले शशि फिर बहन सरस्वती, फिर शारदा शांति और फिर शशि और शशि का निरंतर विस्तार। सरस्वती उसे बहनापा देती है और उसमें लिपटा हुआ सख्य और एक अनिर्वचनीय स्नेह। शारदा उसे किशोर जीवन की प्रथम रागानुभूति से कुरेदती है और उसे एक अपूर्व राग-सामर्थ्य के बोध तक ले जाती है. और पृथक् हो जाती है। शांति मृत्यु की गोद में बैठी हुई है, किन्तु उसके भीतर जीवनानुभूति इस कदर समाई हुई है कि वह शेखर को एक प्रशांत रागात्मकता से आवृत्त कर देती है। उसके संस्कार इतने गहरे हैं कि वह मिटते-मिटते भी शेखर के भीतर रागानुभूति को कुरेद जाती है।

माँ उसके प्रति किसी क्षण में आविश्वास व्यक्त करती है जिसे वह ताड़ लेता है और इतना आहत अनुभव करता है कि सब कुछ छोड़कर निरुद्देश्य घर से निकलकर एक धुन में भागता हुआ न जाने कितनी दूर चला जाता है। भूख और प्यास के मारे निढाल पड़ जाता है। पूरी रात ठंडक में एक अनजान जलाशय के किनारे सोकर बिताता है। और फिर चुपचाप लौट तो आता है घर पर किन्तु वह 'वही' नहीं रहता। माँ का यह अविश्वास फाँसी के संभावित क्षण तक उसका पीछा नहीं छोड़ता क्योंकि वहीं से तो उसे सबसे अधिक विश्वास की अपेक्षा थी।

इस प्रकार इन सारे सम्बन्धों के संदर्भ शेखर को एक परिपक्व व्यक्तित्व देने में अपना महत्त्व रखते हैं। वह कुछ भी छिपाता नहीं है। इसलिए इन सम्बन्धों के बीच से निर्मित होने वाले शेखर को पहचानते हुए यह बात स्पष्ट तौर पर उभरती है कि शेखर के इन सारे सम्बन्धों में मांसलता, ऐन्द्रियता अथवा वासना के अनुभव नहीं के बराबर हैं। यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या यह स्वाभाविक है। किन्तु शेखर के उस जीवन संदर्भ को और आयु की जिस मंजिल पर वह खड़ा है उसे देखते हुए तो यह बात न केवल स्वाभाविक लगती है बल्कि उसके चरित्र की एक बड़ी शक्ति के रूप में उभर कर आती है। वह अपने आयु के बीसवें वर्ष में है, क्रांतिकारी है, राष्ट्र के प्रति समर्पित है। इसलिए उसमें वासना या यौनेच्छा रंचमात्र भी अंकुरित नहीं हो सकी। जिस रागानुभूति से उसका व्यक्तित्व संवलित है वह एक भिन्न प्रकार की अनुभूति है जो उत्सर्ग की शक्ति देती है। किसी प्रकार की स्थूल माँग नहीं करती।

यह सब कुछ शेखर एक जीवनी की संरचना में किस प्रकार अनुस्यूत हुआ है—यह प्रश्न भी बार-बार उभरा है और बहुत-सी बातें उस संदर्भ में भी कही गई हैं। इस उपन्यास की संरचना पर 'ज्यों क्रिस्तोफ' का कितना प्रभाव है ? यह चर्चा भी कई प्रकार से उभर कर आई है। यह उपन्यास भी प्रत्यवलोकन की शैली में लिखा गया था और अज्ञेय का पढ़ा हुआ उपन्यास था। निश्चय ही कहीं-न-कहीं उसने अज्ञेय को प्रभावित भी किया था, किन्तु, अज्ञेय जिस बिन्दु पर

खड़े होकर अपने जीवन को पलट कर देखते हैं या दूसरे शब्दों में अपने बीते हुए जीवन को फिर से जीते हैं उस प्रक्रिया में अनुभूति के जिस क्वथनांक पर वह अवस्थित हैं वहाँ किसी और व्यक्ति के अनुभव से बहुत प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह अवश्य है कि अपने अनुभव की पुनर्रचना और पुनः-पुनः लेखन के क्रम में संरचना की कुछ खूबियाँ 'ज्यों क्रिस्तोफ' से सहज ही संक्रमित हो गई हैं। इस प्रकार के संपादन में जिन लेखकों की रचनाएँ शामिल की गयी हैं, वे कई प्रकार के लोग हैं। कुछ अज्ञेय के जीवन से निकटता से जुड़े हुए लोग हैं और उनकी रचनाओं के माने हुए समीक्षक रहे हैं जैसे डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ॰ रघुवंश, डॉ॰ चंद्रकांत बोंदिवडेकर, डॉ॰ रमेशचन्द्र शाह, डॉ॰ भोला भाई पटेल और श्री गिरिराज किशोर आदि। इन सभी लोगों ने कभी-कभी काफी दूर तक अज्ञेय का सान्निध्य पाया है। उनकी रचनाओं पर पुस्तकें और समीक्षात्मक लेख लिखे हैं। उनके जीवन और रचना-संदर्भों से गहराई से परिचित रहे हैं। दूसरी तरफ ऐसे लेखक हैं जो अज्ञेय से बहुत निकटता से जुड़े तो नहीं रहे हैं किन्तु समीक्षा के क्षेत्र में और विश्वविद्यालयों में अध्ययन के क्षेत्र में जिनका विशेष स्थान और अनुभव रहा है जैसे डॉ॰ गोपाल राय, डॉ॰ युगेश्वर, डॉ॰ सत्यप्रकाश मिश्र, डॉ॰ राजेन्द्र कुमार और डॉ॰ ओम प्रभाकर आदि। ये सभी लोग हिन्दी के मान्य आलोचक और समीक्षक हैं और विश्वविद्यालयों और अध्यापन क्षेत्र से जुड़े हैं। ये सभी लेखक 'शेखर : एक जीवनी' के किसी-न-किसी पक्ष या आयाम को बहुत गहरे स्तरों पर उभारते हैं और पाठक निश्चय ही इन लेखों के माध्यम से 'शेखर : एक जीवनी' का एक नया साक्षात्कार कर सकेंगे। संपादक ने इसमें अपना एक लेख अलग से भी "शेखर में अज्ञेय" शीर्षक से संकलित किया है। चूँकि संपादक अज्ञेय का जीवनीकार भी रहा है और उनकी रचनाओं का निष्ठावान पाठक। इसलिए 'शेखर : एक जीवनी' में अज्ञेय का निजी जीवन कहाँ तक व्यंजित हुआ है यह जानने की जिज्ञासा उसके भीतर लगातार सक्रिय रही है। इन टिप्पणियों के साथ यह पुस्तक आपको अर्पित करते हुए एक संतोष का अनुभव करता हूँ। बस।

□□□

रामस्वरूप चतुर्वेदी

शेखर : व्यक्तित्व का नया आयाम

अज्ञेय के काव्य में मानवीय व्यक्तित्व को, या कि समूची सृष्टि को ही, एक नये, अपेक्षाकृत गैर-रोमांटिक ढंग से देखने की शुरुआत मिलती है, जिसमें आग्रह परम्परागत राग पर उतना नहीं जितना कि यथार्थ को सही ढंग से समझने पर है। उपन्यासों में मानवीय व्यक्तित्व की परिपूर्णता की ओर क्रमिक यात्रा लेखक की चिन्तना का केन्द्रीय तत्त्व है। और इस प्रकार कविता तथा उपन्यास मिलकर व्यक्तित्व का, और इसलिए अन्ततः यथार्थ का भी, एक समग्रतर चित्र उपस्थित करते हैं। दो जिल्दों में प्रकाशित 'शेखर' अज्ञेय का पहला उपन्यास है; प्रस्तावित तीसरा भाग छपा नहीं। यों दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' वयस्क शेखर की प्रणय कथा ही लगती है। पर कई स्तरों पर जहाँ 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' का रचनात्मक सम्बन्ध जुड़ता है, वहाँ कई अन्य स्तरों पर नहीं भी जुड़ता। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि 'नदी के द्वीप' 'शेखर' की एक विशिष्ट संवेदना का प्रसार है, किन्तु 'शेखर' के तीसरे भाग के रूप में उसे नहीं माना जा सकता।

'शेखर' (प्रथम खण्ड : 1941, द्वितीय खण्ड : 1944) और 'नदी के द्वीप' (1951)—दोनों में पीड़ा और प्रेम के माध्यम से, उनसे व्युत्पन्न सर्जनात्मक ऊर्जा के बीच से (और पीड़ा तथा प्रेम ये दोनों भी मूलतः एक ही तत्त्व हैं) व्यक्तित्व की परिपूर्णता स्वायत्त करने की चेष्टा हुई है। 'शेखर' चतुर्मुखी विद्रोह का आख्यान है, पर 'नदी के द्वीप' सबसे पहले एक प्रणय कथा है अत्यन्त सुकुमार, संवेदनशील, विशिष्ट, पर उदार। पीड़ा और प्रेम व्यक्तित्व को कैसे उन्मुक्त और स्वाधीन बनाते हैं (या बनाता है), यही उपन्यासकार की जिज्ञासा का मुख्य क्षेत्र है, विशेषतः दूसरी कथाकृति में, क्योंकि पहली रचना में तो अन्विति केन्द्रीय पात्र की उपस्थिति से ही अधिक सम्भव होती है, संवेदनात्मक स्तर पर उतनी नहीं।

व्यक्तित्व की इस परिपूर्णता के यत्न को खण्डित करने वाला सबसे बड़ा तत्त्व मृत्यु या उसका त्रास माना गया है। आधुनिक काल में पश्चिम के कई दर्शनों ने, विशेषतः अस्तित्ववाद ने माना है कि मृत्यु समूचे जीवन को अनर्थक बनाती है। इसके विपरीत अपने तीसरे और नवीनतम उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' (1961) में अज्ञेय की उपपत्ति है कि नश्वरता का भाव ही जीवन को सर्जनात्मक, रसमय और अर्थवान् बनाता है, और इस तरह मृत्यु व्यक्तित्व की परिपूर्णता में बाधक नहीं, वरन् उसे निष्पन्न करने में सहायक है। 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' में व्यक्ति और समाज के बीच दोनों को जोड़नेवाला व्यक्तित्व का सम्पृक्त रूप विकसित हुआ है। पर यह आरम्भ में ही स्वीकार करना होगा कि बड़े संवेदनशील स्तरों पर व्यक्तित्व की

परिपूर्णता का यह यत्न, लेखक की परिकल्पना को बराबर समाजपरक बनाये रहने पर भी, उसे व्यापक जीवन से जोड़ नहीं पाता, और तब अनुभव होता है कि अज्ञेय के पहले दोनों उपन्यासों में असाधारण रूप से कुशल साधन उतनी ही बड़ी और व्यापक दृष्टि के लिए प्रयुक्त होते नहीं दीखते। कृतिकार के जीवन की यह एक विडम्बना ही है। 'अपने-अपने अजनबी' में अवश्य लेखक उस स्तर तक पहुँच जाता है, जहाँ व्यक्ति, समाज और व्यक्तित्व के भेद नहीं रह जाते—जहाँ जीवन अपनी समग्रता में है। और यह स्मरणीय है कि जीवन का यह समग्रतर बोध लेखक के उस उपन्यास में अंकित हुआ है, जो आकार की दृष्टि से सबसे छोटा है।

तो एक मूल वस्तु का क्रमिक विकास अज्ञेय के उपन्यासों में मिलता है और यह भी स्पष्ट है कि दृष्टि का पकना इन उपन्यासों में उत्तरोत्तर उपन्यासत्व को विकसित करता चलता है। क्योंकि कथा के माध्यम से और फिर कथा से ऊपर उठकर भी रचना-दृष्टि का अधिकाधिक सम्भव और दक्ष संघटन उपन्यास की मूल विशेषता है। इस दृष्टि से लेखक बराबर कथा से उपन्यास की ओर उन्मुख होता चला है।

अज्ञेय ने जब 'शेखर' लिखा उस समय हिन्दी उपन्यास घटना और कथानक बहुलता से ऊपर उठकर चरित्रांकन को महत्त्व दे रहा था। चारित्रिक व्यंजना की दृष्टि से प्रेमचन्द निश्चय ही हिन्दी के शीर्षस्थ उपन्यासकार रहेंगे। पर चरित्र के आचरण और व्यवहार में गहरे स्तर पर संगति की खोज अभी आरम्भ न हुई थी। जैनेन्द्र के साथ अज्ञेय इस दिशा के आरम्भिक प्रयोगकर्त्ताओं में हैं, जिन्होंने चरित्र के आचरण को समझने के लिए समग्र व्यक्तित्व और उसकी संवेदनाओं को समझने का उपक्रम शुरू किया। 'त्यागपत्र' और 'शेखर' इस अभियान की पहली महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं, जो सामाजिक यथार्थ की स्वीकृत और मान्य औपन्यासिक परम्परा से हटकर कुछ-कुछ कविता के जैसे सूक्ष्म संघटन की ओर झुकी दिखाई देती हैं।

'शेखर' का पहला भाग लेखक की पहली महत्त्वपूर्ण कृति के रूप में स्वीकृत और चर्चित हुआ। सच तो यह है कि अज्ञेय के कवि को इस कथाकृति के प्रति दुहरे स्तर पर आभारी होना चाहिए—साहित्यिक प्रतिष्ठा के स्तर पर बाहरी रूप में, और रचना के अन्तरंग क्षेत्र में व्यापक काव्यभाषा की उपलब्धि के स्तर पर। इस दूसरी स्थिति का अपेक्षया विस्तृत विश्लेषण लेखक की काव्यभाषा के प्रसंग में किया जा चुका है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि 'शेखर' के माध्यम से लेखक ने न केवल हिन्दी उपन्यास के आभ्यन्तर को रूपान्तरित किया, वरन् स्वयं अपनी रंगहीन और सपाट कविता-भाषा का गहरा और रचनात्मक संघात पाया। अज्ञेय की काव्यभाषा का पहला महत्त्वपूर्ण साक्ष्य 'शेखर' ही है, जो स्वयं गद्य-भाषा की उपलब्धि है, पर जिसने लेखक की अब तक प्रायः भटकती और लड़खड़ाती कविता-भाषा को भी एक नयी रचनात्मक दिशा की ओर उन्मुख किया।

'शेखर' मूलतः विद्रोह का आख्यान है। पर इतना कहने-भर से बात स्पष्ट नहीं होती। असली बात इस विद्रोह की प्रकृति को समझना है। क्या यह विद्रोह उस रोमाण्टिक प्रवृत्ति से अलग है, जिसका रूप छायावादी काव्य में दिखाई देता है ? रोमाण्टिक भावधारा से विद्रोह की वृत्ति प्रायः सर्वत्र जुड़ी मिलती है। अज्ञेय के कृतित्व में—विशेषतः रचनाकाल के पूर्वार्द्ध में—रोमाण्टिक वृत्तियों की ही अधिकतर अभिव्यक्ति हुई है। पर लेखक की तुष्टि इतने से नहीं होती, और वह आगे बढ़ने का उपक्रम करता है। इस दृष्टि से 'शेखर' का विद्रोह यों सामान्यतः रोमाण्टिक प्रकार का ही है, पर उसमें राग के अतिरेक से अलग होने की चेष्टा भी दिखाई देती है।

'शेखर' के आरम्भ में लेखक मानकर चलता है, 'इस जीवन में भी कुछ है, एक उत्ताप, एक ऊर्ध्वगामी दीप्ति, जो यदि विद्रोह की शक्ति नहीं, तो विद्रोह-शक्ति की उपासना-सामर्थ्य अवश्य है।' विद्रोह के प्रति यह घना आशंसा का भाव शेखर के आगामी क्रान्तिकारी जीवन के अनुकूल है। पर 'शेखर' के इस आरम्भिक अंश में ही, जहाँ लेखक अपनी मुख्य उपपत्तियाँ प्रस्तावित कर रहा है, विद्रोह के परम्परागत रागाविष्ट रूप से भिन्न एक नयी और अपेक्षया गैररोमाण्टिक परिकल्पना की ओर भी वह संकेत करता है। विद्रोह और क्रान्ति के मनोभावों का विश्लेषण करते हुए उपन्यासकार ने अपनी कामना व्यक्त की है—'मैं उस दिन की कल्पना करता हूँ कि जिस दिन हमारे देश के—हमारे संसार के—क्रान्तिकारी कहाने वाले व्यक्तियों में ऐसी प्रखर किन्तु शीतल बौद्धिक घृणा जागेगी...क्योंकि विद्रोह अनन्त है, नित्य है, क्योंकि उसके उपकरणों में, प्रेम के बाद सबसे बड़ा और सबसे अमोघ अस्त्र है यही बौद्धिक घृणा...'। यह 'प्रखर किन्तु शीतल बौद्धिक घृणा' 'शेखर' की प्रस्तावना का केन्द्रीय तत्त्व है, यह दूसरी बात है कि लेखक इस उपपत्ति को रचना में कहाँ तक उपलब्ध कर पाया है—शायद बहुत दूर तक नहीं ! उपन्यास के समूचे संघटन में प्रेम और विद्रोह दोनों का अपेक्षया रोमाण्टिक पक्ष ही अधिक व्यक्त हुआ है। पर इसका श्रेय अज्ञेय को होगा कि हिन्दी साहित्य के रोमाण्टिक दौर में अपना कार्य प्रारम्भ करके वे विद्रोह के प्रसंग में 'प्रखर' और 'शीतल' दोनों विशेषणों की एक साथ चर्चा कर पाते हैं, और फिर आगे चलकर अपने रचनाकाल के उत्तरार्द्ध में विद्रोह के ठण्डे और गैररोमाण्टिक रूप को दूर तक पहचान पाते हैं। लेखक की आधुनिक विचार और रचना-पद्धति का यह आरम्भिक संकेत है। ठण्डे विद्रोह का रूप प्रस्तावित करते हुए शेखर शशि से कहता है, 'मैं जो कुछ लिखता हूँ बहुत उबलकर लिखता हूँ पर मुझे लगता है कि वह अच्छा नहीं है। बल्कि कभी यह भी लगता है कि उद्देश्य भी उसमें नहीं है क्योंकि वह उबाल-ही-उबाल है, और उद्देश्य के लिए तो नक्शा बनाकर संयम से चलना चाहिए। 'उबाल' पर 'संयम' को मूल्य देना यह स्पष्ट ही रोमाण्टिसिज्म से हटने की कोशिश है। और स्मरणीय है कि संयम को मूल्य देने वाला शेखर क्रान्ति या विद्रोह को मौलिक प्रतिमान मानकर चलता है। बाबा मदनसिंह के साक्ष्य पर वह मानता है कि 'तोड़ना ही धर्म है, बनता तो अपने-आप है।'

शेखर के मन में 'सर्वतोन्मुखी क्रान्ति' की परिकल्पना है, खास तौर से साहित्य के सन्दर्भ में। राजनैतिक नेता क्रान्ति के लिए अलग-अलग पक्ष चुनते हैं, यह उनकी सीमा है। एक दिशा में बढ़ने वाली क्रान्ति से प्रगति सम्भव नहीं, क्योंकि यह अन्य दिशाओं को आच्छादित कर लेती है। पर साहित्य में 'क्रान्ति का एक संगठित पक्ष है तो एक महान व्यक्तितर पक्ष भी है।' और इसीलिए शेखर अपने साहित्य में बहुमुखी क्रान्ति का रूप प्रस्तावित करना चाहता है, जो अन्य क्षेत्रों में सम्भव नहीं।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि शेखर क्रान्ति का 'एक महानतर व्यक्ति पक्ष' मानते हुए भी उसे आन्दोलित करने की शक्ति बाहर ही खोजना चाहता है। 'उसने अनुभव किया कि उसकी प्राणशक्ति अन्तर्मुखी हो रही है और क्रमशः उसी को भस्म कर जायेगी अगर किसी गहरे आन्दोलन ने फिर बहिर्मुखी न कर दिया...और यह होना ही चाहिए, क्योंकि बहिर्मुखी शक्ति ही क्रान्ति कर सकती है, अन्तर्मुखी नहीं। अन्तर्मुख होकर वह एक विशेष प्रकार का कवि चाहे हो जाये, जो वह होना चाहता है, जो वह करना चाहता है, वह सब धूल हो जायेगा।' यह उपपत्ति शेखर के उस संकल्प के अनुकूल है, जिसके अनुसार वह किसी से मोह नहीं करेगा। पर इस बहिर्मुखी शक्ति का महत्त्व, या कि मोह का निरसन उसके जीवन में कहाँ तक व्यक्त हुआ है, मूल प्रश्न तो

यह है। और यहाँ हम विडम्बना पाते हैं कि सामाजिक क्रान्तिकारी होते हुए भी शेखर का व्यक्तित्व बृहत्तर जीवन का अंग नहीं बन पाता। शशि की मृत्यु के बाद शेखर को एक बार फिर से सक्रिय क्रान्ति का आह्वान मिलता है। पत्रवाहक युवक कहता है, 'पर आप चलिए, काम में आपको सान्त्वना मिलेगी और काम बड़ी तपस्या का है...यदि शशि बहन होतीं तो वे जरूर यही कहतीं—और मेरा विश्वास है कि अब भी इससे उनकी आत्मा को शान्ति मिलेगी'—शेखर के मन में शशि के प्रति 'मोह' उबलता है—उसने 'चाहा कि एक थप्पड़ मार दे इस युवक के मुँह पर जो इतनी आसानी से बात कर सकता है।' यहाँ संयम इतना भर है कि वह थप्पड़ मार नहीं देता, पर गहरा मानसिक संयम उसके चरित्र में विकसित नहीं होता। यों, शेखर के आन्तरिक और बाह्य जीवन में संगति नहीं उपजती, ठण्डे विद्रोह की प्रतिज्ञा मोह और राग के आगे टूट जाती है। शेखर के चरित्र में यह संगति की कमी पूरे उपन्यास की कमजोरी बन जाती है। 'शेखर' में रचना-दृष्टि के आच्छादित हो जाने का यह एक मूल कारण है।

'शेखर' के लेखक की जिज्ञासा और चिन्तना का प्रधान क्षेत्र मानवीय व्यक्तित्व है, यह संकेत किया जा चुका है। स्वयं शेखर के शब्दों में इस व्यक्तित्व की 'सम्पूर्ति-आपूर्ति की कहानी' कहना रचना का मुख्य उद्देश्य है। और सम्पूर्ति-आपूर्ति भी समग्रतः नहीं है, उन दोनों के बीच की कोई स्थिति है। रचना में इस केन्द्रीय व्यक्तित्व के रूप की समस्या कथाकार के सामने है। 'प्रवेश' के लगभग अन्त में कथा का उत्तम पुरुष प्रश्न करता है 'अपने व्यक्तित्व को 'मैं' समझूँ, या 'वह' या 'तू' ?' और अन्ततः तटस्थता के निर्वाह की दृष्टि से वह यही निर्णय लेता है कि 'जिसकी कहानी में निहित सन्देश को मैं प्रकट करूँगा, वह 'वह' ही है।' और यों रचना की प्रस्तावना में ही 'व्यक्तित्व की खोज' के वे महत्त्वपूर्ण संकेत मिलते हैं, जिनका उल्लेख कथा-साहित्य के संदर्भ में अज्ञेय ने अपने बहुचर्चित निबन्ध 'समसामयिक हिन्दी साहित्य' में किया है।

आत्मकथात्मक शैली में लिखे जाने के कारण 'शेखर' में यह 'व्यक्तित्व की खोज' अधिक कुशल और प्रामाणिक ढंग से सम्भव हो सकी है। व्यक्तित्व को समझने का अर्थ है अपने को समझना, अपनी सर्जन प्रक्रिया को समझना। इसलिए शेखर की चिन्ता बराबर यह है कि वह व्यक्ति बने 'टाइप' नहीं, जबकि शिक्षा देने वाले संसार की कोशिश है कि 'उसे मूल रचना न रहने देकर एक प्रतिलिपि-मात्र बना दिया जाय'। शेखर का पक्ष है 'व्यक्तित्व का, रचना का और मौलिकता का, क्योंकि मानवीय सर्जनात्मकता की सम्भावना वहीं है। और मौलिक होकर ही सत्य का संस्पर्श सम्भव है, दूसरे की सोची हुई बातों से कभी भी कोई आश्वस्त नहीं हो सकता, वे अपने ही अन्तरात्मा से निकलें तभी सच होती है।' व्यक्तित्व को, रचना को अधिकाधिक खरा और प्रामाणिक बनाया जा सके, अज्ञेय के समूचे कृतित्व की यह केन्द्रीय भावधारा उत्तरोतर निखरती और पुष्ट होती चलती है; वे जानते हैं कि सर्जनात्मक होकर ही मनुष्य सबसे अधिक मनुष्य है।

व्यक्तित्व को खरा और प्रामाणिक बनाने की प्रक्रिया में वेदना का तत्त्व लेखक की दृष्टि में पहले आता है। 'शेखर' की भूमिका का प्रथम वाक्य है, 'वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना में है, वह द्रष्टा हो सकता है।' स्वयं लेखक के साक्ष्य के अनुसार 'शेखर घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए विजन को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है।' तो 'शेखर' जिसकी सृष्टि वेदना में हुई है, वेदना के निर्मायक रूप को बड़े अन्तरंग भाव से प्रस्तुत करता है। शशि के ये शब्द शेखर के लिए मानो आलोक-स्तम्भ हैं—'दुःख उसी की आत्मा को

शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है। शुद्धि दूसरे के साथ दुःखी होने में नहीं दूसरे के स्थान पर दुःखी होने में है।'

उपन्यास के दूसरे भाग में शेखर के काराप्रवास के दिनों का अंकन इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। एक तरह से यह अंश समूची रचना का श्रेष्ठतम अंश है और समकालीन कथा-साहित्य में बेजोड़ है। रामजी, बाबा मदनसिंह और मोहसिन अपने-अपने ढंग के खरे व्यक्तित्व हैं, शेखर उनसे बहुत-कुछ सीखता है, पाता है। उनके व्यक्तित्व में जो दीप्ति है वह वेदना में-से उपजी है। शशि का चरित्र भी बहुत-कुछ ऐसा ही है ; पर 'आत्मपीड़न' को महत्त्व देने वाली शरच्चन्द्र की नारी-सृष्टि से वह बहुत अलग नहीं। दूसरी ओर काराजीवन के शेखर के मित्रों ने, विशेषतः बाबा मदनसिंह ने, जीवन का एक-एक क्षण अर्जित किया है। युवा शेखर के सामने भी मूल समस्या यही है। शेखर जीवन के द्वारा जिया नहीं जाता—वह जीवन को जीना चाहता है। और इस जीने की प्रक्रिया के मुख्य उपकरण हैं—विद्रोह, सर्वतोमुखी क्रान्ति और वेदना।

यह ठीक है कि कारावास का जीवन सामान्य जीवन नहीं है, जैसा बाबा मदनसिंह अपनी प्रखर व्यावहारिक पर तलवर्ती दृष्टि से कहते हैं, 'सूत्र बोलने का रोग आपको भी लगा क्या ? जेल में बातचीत ही अस्वाभाविक हो जाती है।' पर जीवन को जीने, उसमें अर्थ या संगति पाने की चुनौती जेल की दीवारों के भीतर जितनी है, उतनी बाहर शायद नहीं, क्योंकि एक स्तर पर जहाँ जेल में जीवन स्थगित हो जाता है, वहीं दूसरे और गहरे स्तर पर जीवन की चोट उतनी ही गहरी हो जाती है। बाबा मदनसिंह इस चोट को अन्त तक झेलते हैं, और अर्थ या संगति की खोज से उपराम नहीं होते। उनका अन्तिम सूत्र है—'अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है, पर दर्द से बड़ा एक विश्वास है...'

शेखर के जीवन में अनेक अवसर आते हैं जब जीवन में कुछ अर्थ पा लेने की ललकार उसे 'उन्मत्त साँड़' की तरह अव्यवस्थित बना देती है। ऐसे स्थलों पर लेखक के वर्णन अचूक बन पड़े हैं, और भाषा तथा मनःस्थिति का अभेदत्व अपने चरम रूप पर पहुँच गया है। जेल में जीवन के घनीभूत रूप का बड़ा कलात्मक उपयोग अज्ञेय ने 'शेखर' में किया है, विवरण से ऊपर उठकर संवेदन के स्तर पर। यहाँ लेखक के अनुभव और विचार संपृक्त और सर्जनात्मक रूप में कला के धरातल पर संघटित हुए हैं।

जीवन में अर्थ और संगति उपलब्ध करने की खोज शेखर काफी कच्ची वय से आरम्भ करता है। समझदारी आने पर इस खोज में उसे दो व्यक्तियों का सहयोग मिलता है—शशि का और बाबा मदनसिंह का। बाबा मदनसिंह के अन्तिम सूत्र का उल्लेख ऊपर किया गया है—दर्द से बड़ा एक विश्वास होता है। पर शशि उसका संशोधन करती है, शरच्चन्द्र की राजलक्ष्मी ('श्रीकान्त') और अचला ('गृहदाह') और जैनेन्द्र की मृणाल ('त्यागपत्र') की परम्परा में, 'दर्द से बड़ी एक लाचारी होती है—जितना बड़ा दर्द उतनी ही बड़ी—नहीं तो दर्द के सामने जीवन हमेशा हार जाय।' विश्वास और लाचारी का अन्तर बाबा मदनसिंह और शशि के चरित्रों के बीच का अन्तर है। पर बाबा से प्रभावित होने पर भी लेखक का पक्ष अन्ततः शशि का ही रहता है। यही मुख्य कारण है जिससे 'ठण्डे विद्रोह' की प्रकृति को समझने पर भी 'शेखर' का संघटन रोमाण्टिक भाव-धारा को ही प्रश्रय देता है। शेखर ने जाना था कि बहिर्मुखी शक्ति ही क्रांति कर सकती है, अन्तर्मुखी नहीं, पर उसकी मूलवृत्ति रहती अन्तर्मुखी ही है।

पीड़ा और प्रेम के माध्यम से—जो मानवीय चरित्र के विशिष्ट अंग हैं—और उनसे व्युत्पन्न सर्जनात्मक ऊर्जा के बीच से व्यक्तित्व की परिपूर्णता स्वायत्त करने की चेष्टा अज्ञेय के उपन्यासों की मूल वस्तु है, यह पहले कहा जा चुका है। 'शेखर' से लेकर 'अपने-अपने अजनबी' तक जीवन में अर्थसंगति की बुनियादी खोज का यह यत्न रचनाकार के व्यक्तित्व को समृद्ध करता है। 'शेखर' में जेल का अस्वाभाविक जीवन थोड़े समय तक रहता है। 'अपने-अपने अजनबी' में कथा का पूरा गठन ही अस्वाभाविक परिस्थितियों में हुआ है। यों असाधारण परिस्थितियों के दबाव में, खासतौर से मृत्यु के इर्द-गिर्द, लेखक ने जीवन का मर्म समझने की कोशिश की है। यहाँ स्पष्ट ही महत्त्व प्रयत्न की सफलता या असफलता का नहीं है, प्रयत्न किस हद तक सही दिशा में है, मुख्य बात यही है।

शेखर के व्यक्तित्व में पीड़ा और प्रेम का मुख्य सर्जक चरित्र है शशि—'सबसे पहले तुम, शशि। इसलिए नहीं कि तुम जीवन में सबसे पहले आयी या कि तुम सबसे ताजी स्मृति हो। इसलिए कि मेरा होना अनिवार्य रूप से तुम्हारे होने को लेकर है—ठीक वैसे ही जैसे तलवार में धार का होना सान की पूर्व 'कल्पना करता है।' शेखर और शशि के इस अत्यन्त निकट भाव को लेकर हिन्दी साहित्य में बड़ा क्षोभ रहा है; अब भी है, यह कहना शायद अनुदारता का परिचय देना होगा। 'शेखर' जब प्रकाशित हुआ था उस समय से लेकर स्थिति में काफ़ी अन्तर हुआ है। एक मुख्य अन्तर तो यही है कि अब तक 'शेखर' को प्रकाशित हुए बीस वर्ष से अधिक हो चुके हैं; बीस वर्ष से 'शेखर' हिन्दी साहित्य का अंग है। पर यह सही है कि 'शेखर' के छपने पर अनेकानेक पाठकों और आलोचकों ने अपना नैतिक क्षोभ इसलिए प्रकट किया था कि शेखर और शशि जैसा घनिष्ठ भाव उनकी दृष्टि में—जिसे तब भारतीय दृष्टि कहना भी आसान था—केवल पति-पत्नी के बीच ही उचित है, जबकि लेखक शशि और शेखर को बहन-भाई के रूप में चित्रित करता है, भले ही दूर के रिश्ते से। पुरुष और नारी के बीच गहरी मानवीय संवेदना और उसकी अनेक अर्थ छायाओं को समाज केवल एक बिल्ला देना चाहता है, दाम्पत्य का। स्पष्ट ही समाज की निगाह में बिल्ला मुख्य है, मानवीय परिस्थितियाँ गौण हैं। अज्ञेय ने इस अतिचार का विरोध किया। उनकी दृष्टि में शेखर और शशि का सम्बन्ध मुख्य है, नामकरण की स्थिति बाद में हो सकती है। स्वीकृत नामकरणों के अनुसार मानवीय सम्बन्धों की परिकल्पना यथार्थ को उलट देना है, अज्ञेय का मौलिक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व जिसके खिलाफ था। यही कारण है जिससे शशि-शेखर का सम्बन्ध रूढ़ मस्तिष्क के लिए व्यभिचार का द्योतक था, जबकि विद्रोही नयी पीढ़ी ने उसे सहज और आत्मीय भाव से माना।

उपन्यासकार शशि और शेखर के सम्बन्ध को केवल एक भावमय स्थिति-भर मानकर नहीं छोड़ देता। अपनी रचना के इस केन्द्रीय संवेदन सूत्र को वह तर्कपूर्ण ढंग से समझना-समझाना चाहता है। जेल में—जहाँ से मानो शेखर वयस्कता का अनुभव आरम्भ करता है—शशि के मिलने आने पर वह सारी स्थिति पर गहरे ढंग से विचार करता है। जाते समय शशि को 'आदिम बहन' मानकर शेखर प्रणाम करता है। इस 'आदिम बहन' वर्णन में ही लेखक एक अतिनैतिक (अनैतिक नहीं) मनःस्थिति का बड़ा सूक्ष्म और व्यंजक संकेत देता है, जहाँ पुरुष और नारी का विश्वासप्रद सम्बन्ध सारे नियमों-विधानों के ऊपर है। अपनी सगी बहन सरस्वती और शशि की स्थितियों की तुलना करते हुए शेखर शशि के प्रति अपने मूल भाव को एक आधार देने का यत्न करता है—'सरस्वती तो 'थी' ही। शेखर ने होश संभालने के समय से ही उसको आस-पास देखा था—पर शशि मानो उसकी अपनी खोज का परिणाम थी। असंख्य

प्राणियों के उस उलझे संसार में से उसने उस एक को खोज निकाला था अपने स्नेह के दायरे में बैठाने के लिए, वह बहन, यानी अपनी होकर भी नयी, कुछ अपरिचित, कुछ आयास-सिद्ध थी...जैसे उसे अपनाने के लिए हमेशा सतर्क रहना पड़ता था।' पर इतने विश्लेषण के बाद भी शेखर सारी स्थिति के प्रति बहुत निश्चित नहीं हो पाता। यहाँ उपन्यासकार ने बड़े कौशल के साथ मानवीय सम्बन्धों की अद्वितीयता को उनकी सामान्यतः स्वीकृत जड़ता और स्थिरता के ऊपर प्रतिष्ठित किया है। सारा विश्लेषण प्रस्तुत करके भी उसके प्रति शंकालु रहना व्यक्तित्व की गति और सम्भावना का परिचायक है।

इतने मौलिक, अद्वितीय और गतिवान सम्बन्ध की परिकल्पना, जो शेखर के शब्दों में 'उसकी अपनी खोज का परिणाम थी', उतनी ही गहरी पीड़ा का स्रोत हो, यह स्वाभाविक ही है। शेखर और शशि का सम्बन्ध अधिकतर भावनात्मक स्तर पर, पर अंशतः बौद्धिक स्तर पर भी, प्रखर मानवीय पीड़ा को जन्म देता है, जो शशि की मृत्यु तक अर्थात् दूसरे खण्ड के अन्त तक उत्तरोत्तर निखरती जाती है। अपने जीवन के अन्तिम दौर में शशि शेखर को समझाती है, 'मैं वहाँ भी जी लूँगी—जी सकूँगी—क्योंकि तुम्हें बढ़ाती रहूँगी।...तुमसे दूर हटती हूँ, शेखर, क्योंकि पंगु हो गयी हूँ; इसलिए नहीं कि प्यार का अर्थ नहीं जानती। कोई स्त्री प्यार नहीं जानती जो एक साथ ही बहन, स्त्री और माँ का प्यार नहीं देना जानती—।' प्यार और उसे देने वाली नारी की इतनी व्यापक और विराट् परिकल्पना किसी एक सम्बन्ध में कैसे अँट सकती है ? स्वयं लेखक द्वारा आरम्भ में प्रस्तावित सम्बोधन 'आदिम बहन' मानो उसके लिए छोटा पड़ जाता है। 'आदिम नारी' से भी पूरा नहीं पड़ेगा। और तब सारे विशेषणों और भेदों-उपभेदों का सहारा छोड़कर शब्द को सीधे ही लेना होगा—नारी तुम केवल नारी हो।

शेखर को बनाने वाले अन्य व्यक्तियों में उसकी माँ का प्रमुख हाथ है। पर शशि से जितनी आत्मीयता और स्नेह उसे मिला माँ से उतना ही अविश्वास। माँ का विश्वास न मिलना उसे सबसे पहले विद्रोह के लिए प्रेरित करता है। शेखर का आदि विद्रोही रूप माँ को लेकर है। अपने इस भाव का विश्लेषण वह मनोवैज्ञानिक साक्ष्य के आधार पर करना चाहता है। वह सोचता है कि 'असाधारण व्यक्तित्व पिता से प्रभावित होते हैं—यों कहना चाहिए माँ की ओर आकर्षित पुत्र और पिता की ओर आकर्षित कन्या साधारणता की ओर, सामान्यता की ओर जाते हैं, और पिता की ओर आकृष्ट पुत्र, माता की ओर आकृष्ट कन्या, असाधारण होते हैं...शेखर साधारण नहीं था। और वह अपने पिता का उपासक था।' यों माँ के प्रति तीखे और प्रतिकूल भावों ने उसके व्यक्तित्व को गति दी है। व्यवहार बुद्धि वाली माँ से सहज विश्वास न पाने पर शेखर का मन घृणा और वासना से भर जाता है। इससे उसके विद्रोह भाव को और बल मिलता है। हीन समझे जाने वाले ये मनोविकार भी उसके व्यक्तित्व को शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं। कथाकार कहता है, 'प्रेम की और त्याग की विरुदावली बहुतों ने गायी हैं, घृणा और वासना की प्रशंसा कभी किसी ने नहीं की। लेकिन शेखर के जीवन को उन दिनों इन्हीं दो शक्तियों ने सम्भव बनाया।'

शेखर और शशि के सम्बन्धों को यदि एक स्तर पर आपत्तिजनक माना जाता रहा है, तो शेखर के अपनी माँ के प्रति घृणा और विद्रोह के भाव को एक दूसरे स्तर पर। ये दोनों ही प्रकार के मानवीय सम्बन्ध भद्र समाज में तीखी आलोचना के विषय बने हैं। यहाँ स्पष्ट ही आदर्शीकरण पर बल इतना अधिक है कि यथार्थ को बार-बार झुठलाया जाता है, उसे आच्छादित और आवृत्त कर लेना ही श्रेयस्कर माना जाता है। यथार्थ से दूर हटी यह परम्परागत

चिन्तन-पद्धति किसी भी मौलिक और सर्जनात्मक चिन्तन का निषेध करती है; उसका एक ही उद्देश्य है, सारी स्थितियों को यथावत् बनाये रहना। इसलिए प्रत्येक दृष्टिसम्पन्न और क्रान्तिकारी रचनाकार को यथार्थ के ऊपर जमी हुई इन अनेक परतों को सबसे पहले तोड़ना होता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के ऐसे विद्रोही और तेजस्वी रचनाकारों की परम्परा में निराला के साथ अज्ञेय का नाम आयेगा।

'शेखर' का विद्रोह वैयक्तिक स्तर पर जितना उत्कट है, जीवन के वाह्य क्षेत्रों में उतना ही प्रखर भी है। अपने सारे भारोपीय वातावरण के बीच शेखर का केन्द्रीय व्यक्तित्व राष्ट्रीय है, राष्ट्रीय बिना किसी अतिरंजना के, अपने मूल निर्मल रूप में। इसीलिए उसमें जातीय संस्कारों का, हिन्दू सभ्यता के श्रेष्ठतम उपकरणों का कुशल मिश्रण है। शेखर का व्यक्तित्व इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता परस्पर विरोधी तत्त्व नहीं हैं, कि राष्ट्रीयता के आधार के बिना अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास सम्भव नहीं। यों थोथी अन्तर्राष्ट्रीयता, या कहना चाहिए अन्तरनागरिकता के पुरस्कर्ता आज इसके विरुद्ध तर्क देते हैं। इस विशिष्ट सन्दर्भ में स्वातन्त्र्य-पूर्व युग की तुलना में स्वातन्त्र्योत्तर युग में शेखर के चरित्र की संगति कम नहीं होती, बढ़ ही जाती है। शेखर को देखकर यह सम्भव लगता है कि राष्ट्रीय शब्द का सहज और निर्मल भाव से प्रयोग किया जाये, जो समकालीन भारतीय जीवन की एक मौलिक आवश्यकता है। शेखर वस्तुतः आधुनिक भारतीय व्यक्तित्व का एक मूल रूप है।

जिन दिनों 'शेखर' लिखा गया और प्रकाशित हुआ राष्ट्रीयता के दो रूप हमारे सामने थे। योरप में राष्ट्रीयता का उग्र रूप—फासिज्म, नाजीइज्म—अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच रहा था। सारा सभ्य संसार इस उन्माद को लेकर त्रस्त था। दूसरी ओर भारतीय राष्ट्रीयता का विकास हो रहा था, पर जिसके पीछे गान्धी के सर्वोदयी और नेहरू के समाजवादी चिन्तन की पृष्ठभूमि थी। यों भी भारत की मानवतावादी संस्कृति में धार्मिक का जातीय उन्माद कभी पनप नहीं सका। हिन्दू धर्म और सभ्यता अपने चिन्तन तथा व्यवहार दोनों में आक्रामक नहीं हुए। फलतः भारतीय राष्ट्रीयता का रूप सृजनात्मक रहा, घृणा और ध्वंसपरक नहीं।

स्वाधीनता संग्राम में आ जाने पर शेखर के मन में कई मौलिक प्रश्न उठते हैं, हिंसा और युद्ध को लेकर, राष्ट्रीयता और मानवता को लेकर। जेल जीवन के अपने एक शुरू के मित्र विद्याभूषण से इस प्रसंग में उसकी गहरी चर्चा होती है। सारे विवेचन में भारतीय बौद्धिक पृष्ठभूमि के अनुकूल शेखर का झुकाव राष्ट्रीयता की ओर है, पर हिंसा की ओर नहीं। राष्ट्रीयता की प्रबल शक्ति को अहिंसा की ओर मोड़ देना गाँधी के व्यक्तित्व की एक बड़ी उपलब्धि थी। शेखर के ऊपर गान्धी के विचार दर्शन का पर्याप्त प्रभाव है। पर आगे चलकर वह क्रान्ति की ओर आकृष्ट होता है। बाबा मदनसिंह से उसे दृष्टि मिलती है कि सब रक्तपात हिंसा नहीं है, और राष्ट्रीय चरित्र के लिए क्रान्ति की आवश्यकता है—'हमें चारित्र्य चाहिए, तो हमें क्रान्ति चाहिए।'

शेखर के लिए अब क्रान्ति की सार्थकता दुहरे स्तर पर है, क्रान्ति, वेदना के रूप में, निजी चरित्र को निखारती है और बहिर्मुखी स्तर पर राष्ट्रीय चरित्र को ऊँचा उठाती है। शेखर के व्यक्तित्व में विद्रोह और क्रान्ति, राष्ट्रीयता और अहिंसा के तत्त्व एक स्तर पर सम्बद्ध और संघटित हो जाते हैं। अपने अन्तर्मन में शेखर विद्रोही है और परिवेश के सम्बन्ध में राष्ट्रीय। इस तरह शेखर की टक्कर अपने चतुर्दिक समाज से बार-बार होती है। इस संघर्ष में उसे बल मिलता है

शशि के स्नेह और विश्वास से। इसीलिए शेखर मानता है कि उसका होना शशि के होने को लेकर है।

विद्रोह और क्रान्ति, राष्ट्रीयता और अहिंसा—इनके संयोग का मार्ग स्पष्ट ही खतरे का है। अपने मन के अन्दर और बाहर स्वाधीनता संग्राम के परिवेश में, शेखर बराबर जोखम से लगाव महसूस करता है। खतरनाक जीना हो उसके लिए सार्थक और रसमय जीना है। किसी ऐसी ही मनःस्थिति में जवाहरलाल नेहरू ने खतरनाक ढंग से जीने की बात कही थी। पुत्र के भविष्य के लिए चिन्तित अपने पिता से शेखर कहता है, 'पर मैं तो सिक्योर होना नहीं चाहता। आप घर-गिरस्थी, निश्चित आमदनी और सिक्योरिटी की बात कहते हैं; मुझे यही जीवन के रोग लगते हैं—इन्हीं से तो मैं बचना चाहता हूँ। यह चैन की जिन्दगी, यह आश्वासन का भाव, यह दिनोदिन जोखम की अनुपस्थिति—यही तो घुन है जो जीवन की शक्ति को खा जाता है।' जोखम का यह वरण शेखर के टूटते हुए समाज की माँग है और उससे अधिक उसके अपने व्यक्तित्व की। इसका प्रमाण इससे बड़ा और क्या होगा कि 'शेखर' की समूची परिकल्पना ही फाँसी के पहले की रात में हुई है।

भाषा व्यक्तित्व का अभिन्नतम अंग है, और इस बात को अज्ञेय के सन्दर्भ में बहुत सार्थक भाव से कहा जा सकता है। रचना के स्तर पर भाषा की जितनी चिन्ता अज्ञेय करते हैं आधुनिक साहित्य में दूसरा लेखक नहीं करता। पर लेखक की व्यावहारिक दृष्टि में भी भाषा की चिन्ता प्राथमिकता पाती है। व्यक्तित्व यानी सर्जनात्मक भारतीय व्यक्तित्व के संघटन के लिए चिन्तित अज्ञेय अपने सोचने के क्रम में भाषा को मौलिक स्तर पर महत्त्व देते हैं। भाषा उनके लिए अभिव्यक्ति का साधन भर नहीं है, वरन् राष्ट्रीय जीवन का आधारभूत रूप है। इस प्रसंग में भी अपने निष्ठावान पर व्यावहारिक पिता से शेखर की बहस होती है। पिता चाहते हैं कि शेखर को यदि लेखक का जीवन ही स्वीकार करना है तो वह अंग्रेजी में लिखे, शेखर हिन्दी में लिखने की बात कहता है। पिता पूछते हैं—

'पर पाठक किस श्रेणी के ? हमारे जीवन में हिन्दी की हैसियत ही क्या है ?'

शेखर ने कुछ अभिमान के साथ कहा, 'हिन्दी जन-भाषा है। करोड़ों व्यक्तियों के प्राण इसमें बोले हैं ?' फिर यह सोचकर कि ऐसी दलील पिता को रुच सकती है, जान-बूझ कर शरारत की भावना से (यद्यपि ऐसा नहीं था कि इस युक्ति में उसे विश्वास बिल्कुल न हो), 'और हमारी जाति की परम्परा बोलती है—हमारा सारा अतीत इसमें बँधा हुआ है !'

'होगा। पर जिससे आदमी का भविष्य न बने उसके अतीत को लेकर क्या करें। चाटें ?'

'मुझे तो भविष्य दीखता ही हिन्दी में है—अगर हिन्दी हम सबसे छूट गयी तो भविष्य हुआ न हुआ बराबर है।'

'तुम्हें तो दीखेगा ही—हर बात में मेरा खण्डन जो करना हुआ।'

सारा प्रसंग, जो अन्तिम वाक्य में निष्पन्न होता है, दो पीढ़ियों के सम्बन्धों के चित्रण में तो एकदम सहज और मनोवैज्ञानिक है ही, भाषा को लेकर उसमें व्यक्त विचार एक पक्षधर लेखक के न होकर विचारक रचनाकार के हैं और इसीलिए उनका महत्त्व हिन्दी-अंगरेजी के ऊपरी विवाद को लेकर नहीं वरन् व्यक्तित्व के मौलिक संघटन को लेकर है। हिन्दी को भविष्य से यानी कि शक्ति-सम्भावना से सम्बद्ध करके देखना नौकरियों या कि किताबों के बिकने का

प्रश्न न होकर सर्जनात्मक क्षमता की परिपूर्णता का प्रश्न है। भाषा व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब न होकर उसका अभिन्नतम पक्ष है। इसीलिए भाषा की चिन्ता व्यक्तित्व के संघटन की चिन्ता है।

'शेखर' में निजी व्यक्तित्व और राष्ट्रीय जीवन को संपृक्त रूप में प्रस्तुत करने की रचनात्मक चेष्टा बराबर मिलती है। और इसमें सन्देह नहीं कि शेखर का निजी व्यक्तित्व जितना निजी है, राष्ट्रीय जीवन की चिन्तना उतनी ही व्यापक है। राष्ट्रीय जीवन को अधिकाधिक उन्मुक्त, समतल और सर्जनात्मक बनाने की बुनियादी चिन्ता शेखर के व्यक्तित्व में गहरे स्तर पर है। काँग्रेस नगर में वालंटियर संगठन में काम करने से लेकर सशक्त क्रान्ति में हाथ बँटाने तक यही मूलवृत्ति उसके चरित्र में प्रतिफलित होती दिखाई देती है। पर जैसी गहरी उसकी राष्ट्रीयता की अनुभूति है बहिर्मुखी जीवन में उसकी वैसी व्यापक अभिव्यक्ति नहीं होती। शेखर के व्यक्तित्व में संगति की कमी का यह दूसरा पक्ष है।

घोर जाड़े की बूँदा-बाँदी में रात को अकेले स्वयंसेवक के रूप में पहरा देते समय शेखर 'मुक्ति, स्वराज, स्वतंत्रता' के बारे में सोचता है। वह यह भी सोचता है कि राष्ट्रीय जीवन का शक्ति-स्रोत जनता है और नेता तथा जनता के बीच वैसा गहरा सम्बन्ध नहीं है जैसा कि गतिशील संचरण और मुक्ति के स्वप्न को साकार करने के लिए आवश्यक होता है। वालंटियर संगठन में भी ऊँच-नीच का भेदभाव और अफसरशाही देखकर शेखर निराश होता है। रात के अकेलेपन में तरह-तरह के विचार उसके मन में आते हैं—'रोज सुनने में आता है कि नेता नहीं है...ऐसे नेताओं के बोझ से तो समाज कुचला ही जायेगा, उठेगा कैसे...जो ऊपर से लादा जायेगा, वह भार ही होगा, भारवाहक कैसे होगा ? भार उठाने की सामर्थ्य तो उसमें होगी, जो नीचे से उठेगा—विघ्नों, बन्धनों, भारों, शृंखलाओं की उपेक्षा करता हुआ...मुक्ति, स्वराज, स्वतंत्रता—कितने सुन्दर शब्द ! किन्तु कहाँ है इनके पनपने के लिए खण्डित और खाद-युक्त मिट्टी—जनता; कहाँ है वह मिट्टी में ही रसायनिक क्रियाओं से बनी हुई खाद—जनता का अपना जननायक—हाँ, नेतागण जनता को कोसते हैं, किन्तु क्या यह जनता का दोष है कि वे नेता उसमें-से उत्पन्न नहीं हुए हैं ?' राष्ट्रीय जीवन का वैषम्य तथा नेता और जनता का अलगाव द्रुत संचरण को सम्भव नहीं होने देता, शेखर के मन की यह चिन्ता कितनी सही है ! इसीलिए फिर वह क्रमशः तोड़ने के मार्ग की ओर उन्मुख होता है। बाबा मदनसिंह का सूत्र उसकी समझ में आता है कि तोड़ना ही धर्म है, बनता तो अपने आप है। और स्वभाव से विद्रोही शेखर राष्ट्रीय संग्राम के एक अपेक्षया एकाकी रूप क्रान्ति के मार्ग का वरण करता है, अपने लेखन में भी और जीवन में भी।

'शेखर' अपने जिन कई गुणों की वजह से समकालीन हिन्दी साहित्य पर छा गया और उत्तरोत्तर अपना प्रभाव गहरा करता गया उनमें इस उपन्यास का नया रचना-संघटन एक मुख्य तत्त्व है। घटना, कथानक और चरित्र से आगे बढ़कर वह प्रधानतः संवेदन को अंकित करता है। स्थूल विवरण और इतिवृत्त पर बल न देने के कारण उपन्यासकार यह सम्भव पाता है कि वह मानव व्यक्तित्व को उसकी समग्रता में देखे और उसकी संगति समझ सके। उपन्यास में अनेक स्थल इस बात के उदाहरण हैं कि लेखक ने सामान्यतः प्रचलित वर्णनों के देने का लोभ संवरण किया है। मृत्यु के पूर्व शशि की लम्बी बीमारी का प्रसंग निहायत हल्के रंगों में, बड़े सुकुमार भाव से, अपूर्व भाषिक संयम के साथ अंकित हुआ है—

'बताओ, शशि, क्यों, क्या होता है ? क्या होता है...

तब शशि हाथ उठाकर उसके बाल पकड़कर उसका सिर अपनी ओर खींच लेती है और कहती है, 'सुख, शेखर, सुख....'

और इसके बाद एक संक्षिप्त से अनुच्छेद में समय का एक लम्बा और भावपूर्ण प्रवाह, अन्तर्मन और बाह्य परिवेश की अनेक प्रतिक्रियाओं और विस्तार के साथ अनायास उभर आता है। 'शेखर' में शब्दों को लेकर अज्ञेय की मितव्ययिता इस बात का प्रमाण है कि अपनी पहली उपन्यास-रचना में ही लेखक भाषा के गहरे प्रभाव को समझने लगा है। आरम्भिक कविताओं का ढीलापन समाप्त होकर 'शेखर' में भाषा को लेकर एक आन्तरिक अनुशासन विकसित होता है।

पर भाषा के क्षेत्र में मितव्ययिता और मितकथन के बीच अन्तर है, जो इस प्रसंग में समझा जाना चाहिए। मितव्ययिता इस पर निर्भर है कि लेखक किसी एक सन्दर्भ में कितने कम शब्दों का व्यवहार करता है। मितकथन शब्दों के हलके सांकेतिक प्रयोग की कला है; शब्दों की संख्या का वहाँ उतना बुनियादी महत्त्व नहीं है। मितव्ययिता तो सामान्यतः श्रेष्ठ कला का एक मौलिक गुण है। पर रचना-संघटन में मितकथन इधर हाल के साहित्य और कलाओं की विशेषता है, जिसका प्रयोग अज्ञेय के उत्तरकालीन साहित्य में देखा जा सकता है।

स्थूल यथार्थवादी इतिवृत्तात्मक वर्णन से बचने के कारण अज्ञेय के उपन्यासों की समीक्षा को प्रचलित शब्दावली में 'मनोवैज्ञानिक उपन्यास' कहा जाता है। यह बिल्ला स्पष्ट ही भोंडा है। अगर इसका कोई सही अर्थ है तो यही कि लेखक की कथा-कृतियों में स्थूल यथार्थ की जगह यथार्थ के सूक्ष्म, जटिल और परस्पर गुँथे हुए पक्षों को अंकित करने की कोशिश हुई है, यह नहीं कि उपन्यास में मनोवैज्ञानिक समस्याओं या कुण्ठाओं का चित्रण किया गया है। अतः प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्र और अज्ञेय में जो गुणात्मक परिवर्तन आया है वह प्रधानतः भाषिक प्रयोग को लेकर है, जिसकी वजह से वे यथार्थ का अधिक सूक्ष्म और सम्पृक्त अंकन कर पाते हैं। साधारणतः इस सूक्ष्म अंकन को ही मनोविज्ञान का पर्याय मान लिया जाता है।

'शेखर' के विधान में आत्मकथात्मक शैली के प्रयोग के कारण लेखक को यह सुविधा रही है कि वह कथा के केन्द्रीय चरित्र को उसके सारे संघर्षों, घात-प्रतिघातों और संकल्पों-विकल्पों के बीच ठीक-ठीक देख पाया है। घटना और चरित्र की बजाय उनके संघात और संवेदन को इस शैली के कारण अधिक दक्ष ढंग से अंकित किया जा सका है। स्थूल यथार्थवादी वर्णन, विवरण और इतिवृत्त को भी महत्त्व देने वाले क्लैसिकल ढंग के उपन्यासों में अन्य पुरुष शैली अधिक उपयुक्त थी। आधुनिक उपन्यास इस ऊपर के घटाटोप को फाड़कर यथार्थ से सीधे सामना करना चाहता है; स्वभावतः उत्तम पुरुष शैली उसके लिए कुछ अधिक सुविधाजनक हो सकती है। जहाँ तक इस खतरे की बात है कि आत्मकथात्मक शैली में लेखक का आत्मघटित अधिक महत्त्वपूर्ण हो जा सकता है—जैसा कि लेखक ने उपन्यास की भूमिका में संकेत किया है—तो यह खतरा तो सभी शैलियों में वर्तमान है। मुख्य बात है कि रचनाकार अपनी अनुभूति को—अनुभव मात्र को नहीं—कहाँ तक खरे और विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत कर सका है। अनुभूति का कच्चापन उत्तम पुरुष शैली में भी उतना ही सम्भव है जितना कि अन्य पुरुष शैली में। हाँ, इन शैलियों के चुनाव में वर्णन के प्रकार की दृष्टि से कुछ सुविधा हो सकती है।

इस तरह यह प्रश्न ही गलत हो जाता है कि 'शेखर : एक जीवनी' में, नाम-भ्रम की सम्भावना मानते हुए, लेखक के आत्मघटित का अंश कितना है। मूल प्रश्न यह है कि जीवन में

जिन विभिन्न अनुभव क्षेत्रों को लेखक ने इस उपन्यास में लिया है उनकी अनुभूति कितने प्रामाणिक और विश्वसनीय ढंग से अंकित हुई है, फिर चाहे शैली उत्तम पुरुष हो और शीर्षक में 'जीवनी' शब्द आया हो ! फिर इससे भी ऊपर यह कि इन अनुभूतियों के बीच से लेखक की रचना-दृष्टि का क्या रूप उभरता है ! अनुभूतियों के विस्तार और रचना-दृष्टि की आन्तरिक संगति ही उपन्यास के रचना-संघटन को जाँचने की कसौटी है, कृति की निष्पत्ति को परखने का मानदण्ड है।

यहाँ हम अनुभव करते हैं कि अपने उपन्यास विधान में 'शेखर : एक जीवनी' प्रधानतः भाषिक सर्जनात्मकता के कारण अनुभूति-चित्रण में कहीं कतराता नहीं, न कहीं ओछा पड़ता है। चित्रण कहीं-कहीं भावुक या राग प्रधान हो जाए वह दूसरी बात है। घोषित रूप में लेखक के अपने निजी अनुभव से लिए हुए बाल जीवन के चित्रों से लेकर—जिनमें-से अनेक 'शेखर' की नयी और विशिष्ट भाव-सम्पदा को समृद्ध करते हैं और अपने अनुभव-क्षेत्र में अप्रतिम हैं—किशोर जीवन का सम्मोहन, यौवन में क्रान्ति की चुनौती और उसका वरण, और इस समूची अवधि में व्यक्तित्व को अधिकाधिक संघटित करने का प्रयास, यह सब ऐसे सधे ढंग से अंकित हुआ है कि 'शेखर', लेखक के शब्दों में, 'एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज' होने के बावजूद लेखक का निजी जीवन नहीं रह गया है। शेखर एक विशिष्ट वर्ग में बहुतों के अन्दर वैसे ही है जैसे कोलरिज ने कहा था, 'यदि मुझे कहने दिया जाय तो कहूँगा कि खुद मेरे अन्दर हैमलेट की गन्ध है।'

भूमिका में लेखक ने कहा है—'शेखर में मेरापन इससे कुछ अधिक है, इलियट का आदर्श (जिसकी महानता मैं मानता हूँ) मुझसे नहीं निभ सका है।' यह रचनाकार का विनय भी हो सकता है, और स्वचेतन भाव भी। पर यह तो स्पष्ट है कि इस प्रसंग में लेखक का वक्तव्य कुछ खास महत्त्व नहीं रखता। शेखर में अज्ञेय किस सीमा तक अनधिकार रूप में है, इसका सही निर्णय उपन्यास का पाठक ही कर सकता है। उसके सामने तब तक एक ही कसौटी होगी कि उपन्यास में अंकित जीवन कहाँ तक विश्वसनीय है, और कि वह स्वयं व्यापक मानव जीवन को समझने में कहाँ तक सहायता देता है। और अधिकतर पाठकों तथा भावुकों का यही उत्तर होगा, जैसा कि पिछले पच्चीस वर्षों का अनुभव बताता है, कि शेखर के अध्ययन से उन्होंने समृद्धि का अनुभव किया है।

□□□

90303

चंद्रकांत बांदिवडेकर

शेखर के विद्रोह का स्वरूप

यह सर्वविदित तथ्य है कि जिस मानसिकता में 'शेखर : एक जीवनी' का निर्माण हुआ था, वह मानसिकता रचयिता से इतनी दूर हो गयी कि तीसरा भाग लिखने का उत्साह अज्ञेय में न रहा। यह रोचक प्रश्न है कि रचयिता का मानस उसकी प्रतिसृष्टि से कितना जुड़ा हुआ और कितना दूर या तटस्थ रह सकता है, कितनी दूरी वह लाँघ सकता है और कितनी उसके लिए अनुल्लंघ्य रहती है। यह भी सर्वज्ञात है कि अपने प्रौढ़ चिन्तन में रचयिता को 'शेखर' काफी रोमांटिक लगा था और कुछ हास्यास्पद भी। वैसे क्रांतिधर्मी व्यक्ति अवश्यमेव रोमांटिक रहता ही है और जब एक समय का क्रांतिकारी यथार्थ की क्रूर स्थिति से सामना करने को बाध्य हो जाता है तो वह रोमांटिकता से पर्याप्त दूर चला जाता है। फिर वह लेनिन हो, माओ हो या अन्य कोई। असल में अंत तक क्रांतिधर्मी वही रह पाता है जो या तो असमय मृत्यु को वरण करता है या मृत्यु का शिकार हो जाता है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को अज्ञेय से इतनी आत्मीयता मिली थी कि कभी कुछ अटपटे प्रश्न पूछ सकने का दुस्साहस भी वह करता था। इसी संदर्भ में यह प्रश्न पूछ बैठा—"क्या यह नहीं हो सकता कि शेखर की तरुण मानसिकता से वयस्क शेखर के मानस में जो तब्दीलियाँ आयीं वे भी सृजन के लिए एक चुनौती थीं ? "इस पर अज्ञेय कुछ मौन हो गए। उनके मौन को मैं अनुत्तरित होने का पर्याय समझने का दुस्साहस तो नहीं करूँगा लेकिन बार-बार यह बात सालती रहती है कि कहीं विस्तार से इस प्रश्न पर चर्चा होती तो सृजन-धर्म का एक रहस्य शायद खुलता। लेकिन अज्ञेय कभी मौन रह कर भी जो विचारोत्तेजना पैदा करते थे, वह महत्त्वपूर्ण थी।

'शेखर' के आकलन में प्राय: एक महत्त्वपूर्ण सूत्र का उतना उपयोजन नहीं हुआ जितना होना उपन्यास की वस्तु के सही आकलन के लिए आवश्यक था। वह सूत्र है—"शेखर निस्संदेह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज a record of personal suffering है"। परंतु यहाँ समाज और युग बोलता है बाह्य यथार्थ के चित्रात्मक रेखाकंन के रूप में नहीं, जीवन-मूल्यों और आदर्शों के रूप में। यहाँ बाहर की दुनिया प्रतीकात्मक ढंग से व्यंजित होती है, प्रत्यक्ष उपस्थिति कम होती है। परिणामत: आकलन, आस्वादन और मूल्यांकन में त्रुटियाँ पैदा हुई हैं।

शेखर के युग को जानने के लिए पहले शेखर के व्यक्तित्व की बनावट और बुनावट को पहचानना और उस प्रतीकात्मक कांच से युगीन संदर्भ देखना जरूरी था।

निस्संदेह अज्ञेय ने शेखर को एक विद्रोही के रूप में उपस्थित करना चाहा है और लेखक का यह विश्वास भी है कि विद्रोही बनते नहीं उत्पन्न होते हैं। अत: जन्मजात सहज प्रवृत्तियों के

प्रकाश में ही आकलन का रास्ता तय किया जा सकता है। इसमें "क्रांति को स्थायित्व और सार देने वाली अनिवार्य आग्नेय आंतरिक प्रेरणा देखनी होगी। कुछ समय के लिए विद्रोही और क्रांतिकारी के अर्थ को एक मानकर चलना होगा। शेखर विद्रोह को धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक रूपों में विभाजित करने के पक्ष में नहीं है वह कहता है, "मैं कहता हूँ ओ विद्रोहियो, आओ पहले इसी दंभ को काटो ! जानो, समझो, घोषित करो कि हम इस या उस दुर्व्यवस्था के नहीं; हम इस ऐसेपन के ही, एतादृशत्व मात्र के विरोधी हैं। विद्रोह क्रांतिधर्म से अधिक मूलभूत प्रेरणा है और क्रांति की तरह वह सीमित मात्रा में सोद्देश्य नहीं है। एक तरह से अस्तित्ववादी विचारधारा में व्यक्तित्व को कीलित या जड़ित करने के विरोध में जिस चिन्तनपरक सतर्कता और संघर्ष की बात कही गयी है उसी के समकक्ष इस विचार को रखा जा सकता है। यह एक तरह से सतत व्यक्तित्वान्तरण की प्रक्रिया है। इसी लिए यह सतत ध्वंस और सृजन भी है। लेकिन इस मूलभूत ऊर्जा को नियंत्रित कर आकार देने की बात का भी संकेत अज्ञेय करते हैं। विद्रोही और कलाकार के साम्य को निर्दिष्ट करते हुए अज्ञेय लिखते हैं—"विद्रोही हृदय को विद्रोही गठन की आवश्यकता है उसी प्रकार जैसे मृत्तिका को कलाकार के स्पर्श की। विद्रोही को संपूर्ण करने के लिए एक मानव विभूति बनाने के लिए मनःशक्ति की घोरतम निर्ममता की, अथक परिश्रम की आवश्यकता है वैसे ही जैसे मृत्तिका से एक कला की वस्तु तैयार करने के लिए उनकी आवश्यकता होती है—" यह सहायता विद्रोही शेखर को अंशतः 'शशि' के रूप में मिली। इसीलिए विद्रोह की ऊर्जा को एक सृजन का आयाम मिला। स्पष्ट है यह जन्मजात प्रवृत्ति तो है परंतु उसके निर्वाह के लिए विलक्षण कर्मठता की आवश्यकता है। विद्रोही जन्म से पैदा होते अवश्य हैं परंतु अपने सतत व्यक्तित्वान्तरण के लिए घोर बौद्धिक परिश्रम और संकल्पात्मक दृढ़ता भी चाहिए। क्रांतिकर्म के प्रति आदर भाव, विद्रोह भावना के प्रति पूजा भाव, तटस्थ विवेचना की क्षमता, अपने को पहचान कर संसार में आत्म-बलिदान करने की तत्परता—ये क्रांतिकारी के वैशिष्ट्य हैं। इसी के साथ एक सात्विक घृणा की क्षमता और विराट व्यापक प्रेम की सामर्थ्य भी आवश्यक है। इसी प्रेम के सकारात्मक पहलू के कारण अज्ञेय का विद्रोही निहिलिष्ट नहीं होता। विद्रोही को यातना अनिवार्य रूप से भोगनी पड़ती है। परंतु वह उसके व्यक्तित्व को माँजने वाला एक उच्च कोटि का पवित्र अस्त्र भी है। विद्रोही व्यक्तित्व की इस व्यापक पहचान की इसलिए आवश्यकता है क्योंकि इसी के परिप्रेक्ष्य में शेखर की उत्कट संवेदनशीलता का पता चलता है और माँ के प्रति उसकी घृणा प्रेम में उसकी विलक्षण आस्था, प्रेम के लिए आत्म-बलिदान की उसकी तैयारी का सही बोध हो सकता है। शेखर के प्रेम की कसौटी भी बहुत ऊँची है। जहाँ प्रेम जितना उग्र होता है वहाँ ही तीखी घृणा भी होती है, क्रूस में केवल यातना दी ही नहीं जाती, स्वयं पायी भी जाती है और स्नेह में स्नेही अपने को ही नहीं भूलता स्नेह के पात्र को भी भूल जाता है।

शेखर के मूल में अवस्थित विद्रोह भाव की सृजनात्मकता को समझने के लिए एक महत्त्वपूर्ण सूत्र को जिसका संकेत अज्ञेय ने किया है, देखना आवश्यक है। वह है मानव की ऊर्ध्वगामी शक्ति का संकेत : "मैं सोचता हूँ कि यद्यपि हमारा सिद्धांत इस बात को स्वतः मान लेता है कि मानव की प्रेरणा किसी भौतिक जरूरत से उत्पन्न होती है तथापि इस बात में हम भी अखंड विश्वास करते हैं कि मानव में कोई ऊर्ध्वगामी शक्ति है कोई नैसर्गिक सत्प्रेरणा। इन दो परस्पर विरोधी मूल तत्त्वों को हल करना ही हमारी सबसे बड़ी समस्या है। शेखर पतन की रेखा तक पहुँच कर बार-बार किसी आंतरिक शक्ति के बल पर पलट जाता है। उसके मूल

में यह ऊर्ध्वगामी शक्ति ही है। शेखर का यह अनुभव—"मैं अपने पहले बीते हुए असंख्य युगों का निचोड़ हूँ, अपूर्व हूँ, मेरे जीवन का एक क्षण भी पहले कभी नहीं हुआ, मैं एक नयी वस्तु हूँ, एक नई प्रतिज्ञा हूँ जिसे भविष्य पूरा करेगा, एक शिक्षा हूँ जो भविष्य के लिए रह -जायेगी।" परंपरा और उसके बीच मनुष्य के नाते सर्जक धर्म निबाहते हुए नूतन होते जाना—कलाकार का यह धर्म शेखर में है। असल में कलाकार भी वस्तु का व्यक्तित्वान्तरण करता है। एक नए धरातल पर नया सृजनशील आकार। विद्रोही को यही करना पड़ता है कि अगर वह दायित्व निर्वाह करना चाहता है। विद्रोही और कलाकार के बीच का यह साम्य दूर तक जाता है।

अपने चरित्र के केन्द्रीय सूत्रों को आरम्भ में ही प्रस्तुत कर कलावस्तु को आकरित करना दोहरा खतरा है। वस्तु को कलात्मक रूप देने में सफलता प्राप्त करना एक खतरा और पाठकों की जिज्ञासा को आरम्भ में आंशिक रूप में परिशांत कर उसे तर्क नहीं कला प्रत्यय की ओर मोड़ना दूसरा खतरा। अज्ञेय इसमें सफल हो गए हैं।

विद्रोही शेखर की विद्रोही चेतना का प्रारंभिक प्रस्फुटन इस यातना की छटपटाहट में है। एक ओर बालक की जन्मजात प्रवृत्ति का उन्मेष और दूसरी ओर उसे काट-छाँट कर रूढ़ बनाने वाली शक्तियाँ—माँ, बाप, ब्राह्मण, भिक्षु-अतिथि जाति-धर्म। शेखर का विद्रोही मन इन सबका अपने स्तर पर विरोध करता है। शेखर तीन महती प्रेरणाओं का उल्लेख करता है—भय, अहंता और सेक्स। घास-फूस से मढ़े शेर से डरने वाला शेखर अपनी अहंता के बल पर अनुभव करता है कि डर डरने से होता है। डर पर आघात करने की बात इस विद्रोही के मन में ऐसे जम जाती है कि वह शासन के डर पर भी आघात करता है। अहं के भाव से वह अपने को दायित्ववान मानता है तो किसी डाकिए के पैर पर कूद कर नटखटपन में अहं का उन्मेष भी व्यक्त करता है।

परंपरा का एक शिकंजा शिक्षा के रूप में व्यक्ति की गरदन को कसता है। टाइप बना देने वाली इस शिक्षा के विरोध में शेखर कान्वेंट स्कूल की सिस्टर के प्रति विद्रोह करता है। स्कूली अनुशासन के प्रति विद्रोह करता है। स्वाभाविक जिज्ञासा को अवरुद्ध करने वाली हर अर्गला के प्रति शेखर विद्रोही है। मास्टर से वह पढ़ना नहीं चाहता और उसे "थुक्कू मास्टर" कहता है। मिस्टर 'गैस' 'ऐस' बन जाता है। उसे पक्षियों की स्वतंत्रता और उड़ने की क्षमता प्रभावित करती है। स्वतंत्रता के प्रति पैदा इस आकर्षण के कारण ही बंधन डालने वाली हर शक्ति के प्रति उसमें तिरस्कार है। हाँ, वह सीख सकता है तो सरस्वती से जो उसे बंधन में नहीं डालती सरसता का स्पर्श देती है। स्थायित्व की उपेक्षा गति प्रदान करने वाली शिक्षा ही इस विद्रोही मानस को रुच सकती थी। दलित जाति की फूलां और उसकी माँ का प्रसंग गहराई में शेखर को जाति-व्यवस्था के प्रति कुरेदता रहता है।

असल में शेखर जैसा जन्मजात विद्रोही का व्यक्तित्व कुछ ऐसा तरल परिवर्तनशील और संवेदनशील होता है कि हर नया सौन्दर्यानुभव उसके लिए अपने व्यक्तित्व को अतिक्रांत करने का और नए स्तर पर उसे पुनः संगठित करने का कारण बनता है। सौन्दर्य में हरखना, लय में डूबना महावीर की नग्न प्रतिमा में सौन्दर्यानुभव करना शांति की मधुर शीतल साँस मानो उसके मन पर एक हल्का-सा परिमल विखेर गयी। सारनाथ के अजायबघर की नीरवता में खो जाना वह एक भव्य सुंदर आनंदमयी विह्वल शांतियुक्त, आत्मविस्मृत स्वीकृति में बैठा रहा, बैठा रहा, बैठा रह गया। वह सौन्दर्य की अनुभूति का एकांत क्षण भी किसी विद्रोह से कम नहीं है।

क्योंकि वह सर्वव्यापी जड़ता के प्रति विद्रोह है। असल में पैदाइशी कलाकार जड़ता को अतिक्रमित कर हर क्षण विद्रोह ही करता है। तैरते समय पानी को चीरने वाली पंखयुक्त काँपते हुए बाण की तरह अग्रसरण करने वाली गति के आकर्षण में तन्मय होकर पानी में कूद पड़ने वाला शेखर मृत्यु को कःपदार्थ मानकर सदैव चुनौती की स्थिति में रहता है—तार्किक दृष्टि से नास्तिकता से भी महत्त्वपूर्ण यह विद्रोह है।

परिवार मुक्तिकामी और स्वतंत्रचेता व्यक्ति को अनेक सूक्ष्म लेकिन चीमड़ धागों से बाँधता है पिता-माता की सुरक्षितता का कवच, आर्थिक आश्रय, प्रेम और भय, अनुशासन, भविष्य की चिन्ता इत्यादि कतिपय शृंखलाओं से यह व्यक्ति को बाँधता है। शेखर इनका सफल-असफल विरोध करता है। कभी ऊपर से अनुशासन का पालन करते हुए वह 'भला' बनने का नाटक भी करता है और विकृत मानसिकता का शिकार बन जाता है। वयःसंधि का विकृत विद्रोह बंधनों से संघर्ष करने का ही एक उपाय है। माँ जन्म देती है, परवरिश देती है, पिता बुद्धि देते हैं, लेकिन व्यक्तित्व, अपने को ही सहने की सामर्थ्य—वह वहाँ से नहीं मिलता। शेखर परिवार के किसी व्यक्ति को परंपरा के साँचे के रूप में नहीं अपनाता, वह अपनी शर्त पर स्वीकार या अस्वीकार करता है। अधिकतर अस्वीकार ही करता है।

कॉलेज के सहपाठियों और मित्रों में भी शेखर अलग रहा क्योंकि विद्रोही व्यक्ति का परिपाटी पर चल रहे मित्र सम्बन्धों में भी मन नहीं रमा। रचयिता अज्ञेय शेखर के बारे में एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करते हैं, "वह सदा अपने ही भीतर घुलता रहा है। अपने से बाहर आने की, जीवन को अपनाने की, संसार को अपना बनाने की, चेष्टा छोड़कर अपने को संसार का बनाने की चेष्टा उसने कभी नहीं की। वह प्यार को भोगता ही रहा है, प्यार देना उसने जाना ही नहीं...।" यह टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है। यह वह बिंदु है जहाँ से शेखर के मानसिक क्षितिज का विस्तार प्रारंभ होता है। संसार के साथ प्यार के धरातल पर जुड़ने का क्रम यहीं से शुरू होता है। एक ओर कालेज की गतिविधियों और दूसरी ओर कुछ बाद में शशि के साथ प्यार को बाँटता चलता है। बोर्डिंग में कूपमंडूक ब्राह्मणों के लड़कों को छोड़कर अछूतों के बोर्डिंग में रहने जाता है। सदियों से सड़ी नदियों के प्राणहीन जल को छोड़कर वह अछूत के गंदे नालों की जीवंतता को चुनता है। एण्टीगोनम क्लब बनाता है, साहित्य का अंक संपात करता है। सामाजिक प्रश्नों पर विद्रोही नजरिये से सोचता है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के दकियानूसी दृष्टि को छोड़कर देखने का प्रयत्न करता है।

राष्ट्रीय कांग्रेस के शिविर में स्वयंसेवक की हैसियत से भाग लेता है। यहाँ वह सामूहिक जीवन, कैम्प के सह-जीवन, राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व की दुर्बलता से परिचित होता है। उसका विद्रोही मन समझौतावादी सिद्धांतहीन आचरण और रुख से घोर विरोध करता है। शेखर जेल जीवन में ऐसे लोगों के संपर्क में रहता है जो उसके चिन्तनशील मानस पर गहरा प्रभाव डालते हैं। शेखर का जेल जीवन उसके लिए उसके जीवनानुभव के विस्तार, जीवन विषयक आकलन की गहनता और निःसंग जीवन-दृष्टि की प्रक्रिया की एक पाठशाला बन गया है। एक ओर सिद्ध चोर और उचक्के हैं और दूसरी ओर विद्याभूषण है, मोहसिन है, बाबा मदन सिंह हैं और रामबाबू हैं। असल में जेल की यंत्रणा, यथास्थिति वास्तविकता सामूहिक जीवन की नरक-यातना कुल दूषित वातावरण इत्यादि का चित्रण उसे नहीं करना है। दुर्दम्य ऊर्ध्वगतिगामी कुछ खास व्यक्तित्वों पर अज्ञेय ने प्रकाश डाला है। उन्हें बौद्धिक मूल्य विषयक चिन्ता, वैचारिक उद्विग्नता, दार्शनिक जिज्ञासा, नैतिक सरोकार का विचार प्रस्तुत करता है। यह जरूरी नहीं कि अज्ञेय

निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचे हैं कि नहीं। महत्त्व है इसमें व्यक्त होने वाले जिज्ञासु, तत्त्व-चिंतक, सत्यान्वेषी मानसिक व्यक्तित्व का। शेखर एक सही जिज्ञासु व्यक्ति है। ऐसा नहीं कि इस जेल अध्याय में रोचक-रसात्मक प्रसंग नहीं हैं—हैं, और उच्चकोटि के हैं। जेल में शशि-शेखर की भेंट उनके पारस्परिक सम्बन्धों का जटिल विधान, शशि के भविष्य के प्रति आंतरिक गहन लगाव और उसकी वाह्याभिव्यक्ति, यह भाव मोहसिन की अकड़ और जीवट, मदन सिंह की चिंतन-प्रक्रिया—ये सभी चीजें रससिक्त हैं। ये समूचे प्रसंग विलक्षण 'इंटेंसिटी' से सशक्त बन गये हैं। समूचे प्रसंगों में एक मूल्य-संपृक्त समृद्ध जीवन-दृष्टि का जो आधार है उसके कारण गहरी मानुषिकता उत्पन्न हुई है। इस सबके आधार में शेखर का विद्रोही व्यक्तित्व है। नयी जीवन-दृष्टि का आग्रह है और दकियानूस जीवनदृष्टि का विरोध। मदन सिंह से सीखे कुछ अनुभव के सूत्र—"क्रांति के लिए चरित्र की आवश्यकता है", "दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है"—शेखर जेल से टूट कर नहीं, अधिक संपन्न होकर बाहर निकला।

इसके बाद शेखर की दुनिया शशि के साथ साझे जीवन और उसके स्वास्थ्य की चिन्ता तक सिमट आती है। परंतु क्या यह जीवन व्यापार का संकुचन है ? शशि शेखर के लिए प्यार का अवलंब तो थी अवश्य, परंतु, उसके साथ मूल्यदर्शी चेतना भी जुड़ी हुई थी, शशि के लिए समर्पित जीवन एक तरह से नारी के व्यक्तित्व के विकास के प्रति समर्पण था। शशि नारीमुक्ति का प्रतीक थी, शशि के प्रति रामेश्वर, उसकी सास और परिवार हिन्दू परिवार का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें नारी का व्यक्तित्व कुंठित होता है, त्रास पाता है। इस जकड़बंदी से दूर होने में शशि की सहायता क्रांतिधर्मिता का ही अलग प्रकटीकरण था क्योंकि शशि का वैवाहिक जीवन नारीमुक्ति की बाधकता का सबसे बड़ा उदाहरण था। वह क्रांति की प्रेरणा प्रदान करने वाला साहित्य रचना चाहता है जिसकी प्रेरणा-देवी शशि ही है। यह संभवतः वयस्क रचयिता अज्ञेय की दृष्टि से रोमानी था। शेखर अन्तर्मुखी होने लगता है, "उसने अनुभव किया कि उसकी प्राण-शक्ति अन्तर्मुख हो रही है और क्रमशः उसी को भस्म कर जायेगी अगर किसी गहरे आन्दोलन ने फिर अन्तर्मुखी न कर दिया....और यह होना ही चाहिए क्योंकि बहिर्मुख शक्ति ही क्रांति कर सकती है, अन्तर्मुख नहीं। अन्तर्मुख कर वह एक विशेष प्रकार का कवि चाहे हो जाये, जो वह होना चाहता है, जो वह करना चाहता है, वह सब धूल हो जायेगा....।" लेकिन शेखर के व्यक्तित्व का संगठन जिस तरह बना था उससे यह नहीं होना था। "अस्पष्ट रूप से उसने चाहा कि वह निरा लिखना नहीं कुछ और भी काम करे जिससे वह लोगों के संपर्क में आए, पर क्या और कैसे—वह नहीं सोच पाया।" यह शेखर के व्यक्तित्व की सीमा है। सिद्धांततः शेखर लोक-संपृक्ति को स्वीकार करता है। अंग्रेजी में लिखकर यश और अर्थ प्राप्त करने की अपेक्षा वह हिन्दी में लिखता है—"हिन्दी जनभाषा है। करोड़ों व्यक्तियों के प्राण इसमें बोले हैं।" वह स्थायी नौकरी नहीं करना चाहता। गिरस्थी जमाना नहीं चाहता, सेक्योरिटी की चिन्ता वह नहीं करता। ये सब बातें शेखर के मूल विद्रोह तत्त्व से जुड़ी हुई हैं। शेखर और शशि जीवन में कुछ वर्जित रास्ते पर चल रहे हैं। कुछ मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि बिना विवाह के साझा जीवन जीने की इधर की परिपाटी का यह मूल स्रोत बिंदु है। परंतु ध्यान में रखना होगा कि इसमें उपभोगवादी दृष्टि शून्य है। शरीर-संवेदना के आदान-प्रदान तक मुहब्बत की सीमा रेखांकित करने की दिशा से यह पूर्णतः विपरीत दिशा है। यह सम्बन्धों की सार्थकता की आत्मिक खोज है। शेखर और शशि प्रेम की उन गहराइयों में जाते हैं जहाँ हिन्दी का कोई उपन्यासकार इसके पहले कभी नहीं पहुँचा था। "पर शेखर के मन में कहीं इसका धुँधला-सा

ज्ञान भी है कि शशि से उसकी ओर स्नेह की एक आप्लवनकारी धारा बही आ रही है। और उसके अन्तर का स्नेह स्वयं शशि की ओर उठ रहा है। जैसे जलप्रवाह में गर्व की उत्सुक फेनधारा को सिर—आँखों पर लेने के लिए उमड़-उमड़ आती है...और यह दुःख लांछना की खाद में यह जो दुहरे वात्सल्य का अंकुर फूटा है यह मानव-जीवन से सबसे बड़ा और अलौकिक चमत्कार का उन्मेष है।..."

शशि के अस्तित्व को शेखर ने अपनी चेतना का अभिन्न अंग बनाया था—यह कहना अधिक उचित होगा कि बन गया था क्योंकि उसमें सहज स्वाभाविकता थी। असल में शेखर अनुभव करता है कि—"शशि अब नहीं है। किन्तु मैं शशि हूँ इसलिए मैं अब नहीं हूँ, केवल था। अब भी मैं अपने से अधिक उसके दुःख से दुखी हूँ, उसके अभिमान से उन्नत, अतः वह जीती है।

यह प्रेमजन्य अवस्था इतनी मौलिक है कि लेखक के सामने यह समस्या पैदा होती है—यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण समस्या है। रचयिता अज्ञेय उसको इस प्रकार पैदा करते हैं—"या कहीं यह बात तो नहीं है कि चरम शास्ति की प्रतीक्षा करते हुए अभियुक्त के स्वीकारी भाव को दबाकर स्मृति के घोड़े पर रचयिता की आकलन बुद्धि चढ़ बैठी है ? क्या अंतिम दिनों में अपने जीवन का अर्थ, अभिप्राय उसकी निष्पत्ति और सिद्धि खोजता हुआ मैं अपने उद्योग की सफलता के मोह में पड़ गया हूँ।..." यह अपनी ही अनुभूति का स्वरूप जानने और अन्वेषण करते जाने की प्रक्रिया भी हिन्दी साहित्य में अभिनव ही नहीं गहन भी है। यह कहीं गहरे में अपने व्यक्तित्व को छद्म से, झूठ और आडंबर से दूषित न होने के एहसास से उपजी चीर-फाड़ है।

शशि के साथ सम्बन्ध और उसकी गहरी संवेदना मुक्ति और सार्थकता दोनों से जुड़ी हुई है। दोनों प्रेम के उस स्तर तक जाते हैं जहाँ तक पहुँचने के लिए उन्हें बहुत कुछ तोड़ना पड़ा और नए सिरे से सिरजना पड़ा। सबसे बड़ी गाँठ जो शशि और शेखर को खोलनी पड़ी वह शशि के हिन्दू संस्कारों की है। जिसमें देह की पवित्रता और उसके जूठे होने का एहसास है लेकिन बहुत कशमकश के उपरांत इसे भी खोलने में दोनों सफल हुए। यह भी व्रिदोह का एक रूप है। एक सूक्ष्म मानसिक विद्रोह। प्यार के चरम उत्कर्ष का कुंठा रहित, गाँठ रहित उन्मुक्त आनंद का क्षण प्राप्त करने के लिए एक अलग किस्म के व्यक्तित्व की अपेक्षा होती है। शशि शेखर को मुक्त रखना चाहती है ; कभी एक दिन, एक क्षण भर के आदर्श माने जाने का सौभाग्य हर किसी को मिल जाता है पर चिरंतन आदर्श कोई नहीं है न हो सकता है, इसलिए जो अपने प्रिय के प्रति 'चिरंतन' सच्चा है, वह अवश्य किसी आदर्श से च्युत है और जो आदर्श के प्रति निष्ठावान है, वह अवश्य कभी न कभी प्रिय को झर जाने देगा। साधारण मानव और कलाकार विद्रोही में यही अंतर है।..."मैं नहीं चाहती कि तुम मानव कम होओ, शेखर, किन्तु अगर तुममें उसकी क्षमता है तो उसमें बड़े होने की अनुमति—स्वाधीनता मैं तुम्हें सहर्ष देती हूँ।" शशि की मृत्यु के बाद शेखर कर्म में निर्लिप्त निस्संग भाव से लग जाता है। "शशि कर्म में तुम हो, चिरंतन प्रेरणा—चिंरतृन क्योंकि मुक्त और मोक्षदा—"

अहं, सेक्स, भय, हिंसा, प्रेम, घृणा-जैसी प्रवृत्तियाँ परिवार और स्कूल-कालेज के माध्यम से रिश्तेदारों के रूप में, साथियों और परिचितों के मार्फत आए सम्बन्धों से शेखर का व्यक्तित्व संगठित होने लगा। परंतु उसमें यह भूमिका निभाई है शेखर की अंतर्मुखता, उत्कट संवदेनशीलता विलक्षण कल्पना-शक्ति ने, बौधिकता और चिंतनशीलता और सबके साथ उसके

पैदाइशी ऊर्ध्वगामी आंतरिक विवेक ने उसकी दुर्धर्ष शक्ति को आकार दिया। इस ऊर्ध्वगामी शक्ति का एक स्रोत शशि के व्यक्तित्व में विद्यमान था। शशि ने उसके व्यक्तित्व को समृद्ध गहराई सार्थकता और सोद्देश्यता के आयामों से गरिमामय बनाया। इस सबके मूल में शेखर का जन्मजात विद्रोही स्वभाव है जो निर्माण के लिए अपने व्यक्तित्व को भी ध्वस्त कर एक नए संगठन की ओर उन्मुख होता है।

यहाँ आकर पुनः विद्रोह और क्रांति पर कुछ विचार करना आवश्यक है। क्रांति प्रायः एक बहिर्मुखी प्रक्रिया का निर्देश करती है जबकि विद्रोह आंतरिक प्रवृत्ति है। क्रांति के मूल में यह आत्मिक प्रेरणा आवश्यक है। शेखर क्रांतिकारी है परंतु उसकी क्रांति विद्रोह पर टिकी हुई है। जो क्रांति के लिए एक आध्यात्मिक नींव बनाने का कार्य करता है। क्रांति इस आध्यात्मिक विद्रोह, जड़ता के खिलाफ मंगलमयी मानवधर्मी चेतना का सतत जागरूकता पूर्वक विरोध के बिना मात्र विनाशकारिणी, विपथगा, और दिग्भ्रमित होने की संभावना से युक्त रहती है। इसका अनुभव विश्व की क्रान्तियों ने, फ्रांस की राज्यक्रांति से लेकर माओ की क्रांति तक किया है। जरा ध्यानपूर्वक देखा जाय तो महात्मा गांधी की दिशा यही थी। शेखर की क्रांतिकारिता इसी विद्रोह पर सक्रिय थी। क्रांति के सामने एक सीमा तक उद्देश्य होता है और किसी भी तरह से स्थितियों के परिवर्तन की आकांक्षा। विद्रोह सतत व्यक्तित्वान्तरण की प्रक्रिया है। शेखर इसी से जुड़ा है। इसीलिए बिना उज्ज्वल चरित्र के क्रांति का समर्थन वह नहीं करता। विश्व का इतिहास भी इस बात को समर्थन देता है।

प्रश्न यह है कि फिर अज्ञेय अपनी वयस्कता में शेखर को कुछ रोमानी और कुछ हास्यास्पद क्यों मानते हैं ? संभवतः शेखर क्रांति कार्य में साहित्य सृजन की प्रयोजनीयता पर जरूरत से अधिक बल देता है। और वाह्य यथार्थ की भयावह जड़ता को अपनी तरुणाई के आवेश में कुछ-कुछ अनदेखा करता है। अपने क्रांति के उज्ज्वल सपने को जरूरत से अधिक मात्रा में समाज पर आरोपित करता है। लेकिन इससे शेखर की महत्ता क्षीण नहीं होती। ध्वस्त होने वाले निर्माण के सपने ही दुनिया को थोड़ा-सा ऊँचा उठाते चलते हैं। फिर वे सपने गौतमबुद्ध के हों, कार्ल मार्क्स के हों या महात्मा गाँधी के।

□□□

गिरिराज किशोर

सामाजिक विद्रोह का शिखर चरित्र—शेखर

'शेखर एक जीवनी' लिखते समय मुझे एक घटना का स्मरण आ रहा है। 1962 में मैं इलाहाबाद में था। उन्हीं दिनों वात्स्यायन जी इलाहाबाद आये थे। उस जमाने में अज्ञेय जैसे लेखक का किसी शहर में आगमन अपने आपमें एक घटना होती थी। कई एक गोष्ठियाँ हुईं। उनमें अज्ञेय जी को सुनने का अवसर मिला। मैंने उन्हें अपने घर पर आमंत्रित किया। उन्होंने सहर्ष आना स्वीकार कर लिया। एक नये, नये क्या नगण्य लेखक के यहाँ अज्ञेय जैसे लेखक का आना भी एक घटना ही थी। उन दिनों मैं शेखर-एक जीवनी से बहुत प्रभावित था। उसे पढ़कर मेरे मन में भी उसी तरह का उपन्यास लिखने की इच्छा जागृत हो गई थी। फलतः उसी जमीन पर मैंने एक उपन्यास लिखना आरम्भ कर दिया था। उसके बीस-बाईस पृष्ठ लिखे भी जा चुके थे। मेरी बहुत इच्छा थी कि वात्स्यायन जी को सुनाऊँ। मैंने झिझकते हुए अपने मन की बात कही। वे सहर्ष तैयार हो गये। मैंने सुनाना शुरू किया। सुनाते हुए कुछ-कुछ मुझे वैसी ही सी लाज आ रही थी जैसे मैं अपने आपको निर्वस्त्र कर रहा हूँ। कहाँ वो, कहाँ मैं। उन्होंने धैर्य के साथ सुना और चुप रहे। पढ़ने के बाद दूसरी-दूसरी बातें होती रहीं। उनकी चुप्पी से मुझे शंका होने लगी कि मैंने सुनाया भी या नहीं ? खैर, जब वे जाने लगे तो मैं उन्हें बाहर छोड़ने गया। मैं बार्नेट होटल के सामने वाले बंगले के एक हिस्से में रहता था। सड़क के पास जाकर जब वे रिक्शा में बैठने लगे तो उन्होंने एक पाँव रिक्शे पर रखे-रखे कहा—"आप मेरी तरह क्यों लिखना चाहते हैं, अपनी तरह क्यों नहीं लिखते ! शेखर एक जीवनी तो मैं लिख ही चुका हूँ।" एक-दो बात और की और रिक्शे में बैठ गये।

मैं सन्न रह गया। लेकिन बाद में मुझे लगा दरअसल उन्होंने मुझे एक तरह की परतंत्रता से मुक्त किया था।

"शेखर एक जीवनी" इस बार पढ़ते समय मुझे यह बात गहराई से महसूस हुई कि अज्ञेय का यह उपन्यास परतंत्रता के खिलाफ और आजादी के लिए एक खुली जद्दोजहद है। इस बीच मैं लगातार यह सुनता रहा हूँ कि "शेखर एक जीवनी" व्यक्तिवादी उपन्यास है, कलावादी और सौन्दर्यबोध पर आधारित उपन्यास है। मैं भी शायद कुछ-कुछ ऐसा ही मानता था परंतु इस बार जब गहराई से पढ़ा तो मुझे लगा कि यह कहना और समझना कतई सही नहीं। कुछ वाक्यों के आधार पर इस उपन्यास को नितांत कलावादी उपन्यास करार दे देना रचना और रचनाकार दोनों के साथ अन्याय है। उपन्यास की भूमिका में लेखक ने एक संकेत दिया है "क्रांतिकारी अन्ततोगत्वा एक प्रकार के नियतिवादी होते हैं। लेकिन यह नियतिवाद उन्हें अक्षम और निकम्मा

बनाने वाला कोरा भाग्यवाद नहीं होता, वह उन्हें अधिक निर्भय होकर कार्य करने की प्रेरणा देता है वह गीता के कर्मयोग से एक सीढ़ी आगे होता है—यदि यों कहा जाय कि क्रांतिकारी का नियतिवाद अटल नियति की स्वीकृति न होकर, जीवन की विज्ञान संगत कार्य-कारण परम्परा पर गहरा (यद्यपि अस्पष्ट) विश्वास होता है तो शायद सच्चाई के निकट होगा।" (पृ० -8 प्र० भा०)

एक और उद्धरण भूमिका से ही देता रहा हूँ—"शेखर निस्सन्देह व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज [a record of personal suffering] है, यद्यपि वह साथ ही उस व्यक्ति के युग-संघर्ष का प्रतिबिम्ब भी है—मेरा आग्रह है कि उसमें मेरा समाज और युग बोलता है कि वह मेरे और शेखर के युग का प्रतीक है।" (पृ० -10, वही।)

कई रचनायें ऐसी होती हैं जो अपने यानी लेखक के व्यक्ति के माध्यम से यात्रा आरम्भ करती हैं और समाज के भीतर तक चली जाती हैं। समाज वह ही नहीं होता जिसे हम भोग रहे हैं या जिसके हम उपयंत्र हैं, समाज वह भी था जो हमसे पहले था और जिसे हमने नहीं किसी और ने भोगा, परंतु उसी की एक कड़ी हम तक पहुँची है। हम उसके साथ बँधे हैं। पर वह समाज उसी कड़ी के माध्यम से हम तक पहुँच रहा है। हम उसे भी भोग रहे हैं। वह समाज जिसे हम न देखते हैं और न भोगते हैं वह भी कहीं हम तक निरंतर पहुँचता है, परंपराओं के सहारे। सबसे अधिक साहित्य के सहारे। हम टॉल्स्टॉय के समाज को नहीं जानते। न हम तब थे पर वह समाज "वार एण्ड-पीस" के माध्यम से हम तक पहुँच रहा है। हमारी संवेदना का हिस्सा है। हम उसमें जीते हैं वह हममें जीता है। साहित्य का यही बहुआयामीपन उसकी जीवन्तता का आधार है। शेखर एक जीवनी का लेखक जब कहता है उसमें मेरा समाज है तो स्वाभाविक है वह उस समाज का उपन्यास है जिसकी एक कड़ी हम तक पहुँच रही है। व्यक्तिगत सम्बन्धों के संदर्भ में भी और सामाजिकता के संदर्भ में भी। साहित्य अकेला ऐसा रचनात्मक माध्यम है, जो समाज की इकाई मनुष्य के माध्यम से ही अपने सारे आकलन करता है। चाहे वह दर्द हो, या दुःख, या वेदना, या भूख या अपमान, या दासता या स्वतंत्रता। राजनीति, विज्ञान, दर्शन की तरह वह समूह में नहीं जीता। समूह भी उस तक जाता है तो पात्रों के माध्यम से। जब मैं गोदान पढ़ता हूँ तो वह पूरा समाज मेरे पास व्यक्ति-चरित्रों के माध्यम से आता है, चाहे होरी हो या धनिया, या कोई और। वह पूरा समाज मेरे ऊपर ज्वार की तरह नहीं चढ़ा चला आता। उसका एक-एक चरित्र समाज है। चरित्र ही वह चावल होता है जो पूरी हांडी की पहचान कराता है।

हम समाज किसे कहते हैं ? एक तरह के लोगों के उस समूह को जो मानसिक और शारीरिक भिन्नताओं के बावजूद कुछेक समान परंपराओं, स्वभावों, व्यवहारों और रहन-सहन की परिपाटी में बँधा होता है। जब खुलता है तो एक साथ खुलता है, भले धीमे-धीमे खुले। उसके खुलने का अहसास उन व्यक्तियों से होता है, जो बदले या बदलते रूप-गुण में दिखायी देते हैं या जो बदलाव को अस्वीकार करके यथास्थिति बनाये रखने के लिए कटिबद्ध होते हैं। समाज की पहचान व्यक्ति, उसके व्यवहार और सोच से होती है। हम व्यक्ति को काटकर समाज की पहचान नहीं कर सकते। इस बात को एक उपन्यासकार या लेखक शायद ज्यादा अच्छी तरह समझता है। जो व्यक्ति को नहीं पहचानते वे समाज को भी नहीं जानते। अतः उसे बाँधकर भी नहीं रख सकते। उसका बिखरना अवश्यंभावी हो जाता है।

पता नहीं कैसे और कब या किसने 'शेखर एक जीवनी' को नितांत व्यक्तिवादी उपन्यास

मानकर उसे सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया से अलग कर दिया। मुझे तो लगता है "शेखर" गोदान की ही परंपरा में उससे आगे की कड़ी है। मैं श्रेष्ठता, अश्रेष्ठता की बात न करके उस शृंखला की कड़ी में जुड़ने वाली अगली कड़ी की बात करना चाहता हूँ, जो शेखर है। सामंतवाद का यथारूप स्वीकार कर लेने वाला होरी, अपने समय के साथ एक खामोश संघर्ष करने की प्रक्रिया से गुजरता हुआ अपने प्राण त्याग देता है। वह संघर्ष को थोपा हुआ नहीं मानता, अपने जीवन का नैसर्गिक हिस्सा समझता है। उसका समाज उन व्यक्ति चरित्रों से बना है, जो गोदान के हीरो होरी से निरंतर सहयोगी या विरोधी के रूप में टकराते हैं। सहयोग और विरोध टकराहट की यह प्रक्रिया ही, समाज होने का पता देती है। शेखर भी होरी का ही नगरीय रूप है तो शिक्षा और सामाजिक बदलाव के फलस्वरूप शेखर बना है। जब मैं यह कहता हूँ तो पूरी जिम्मेदारी के साथ उस खतरे को समझते हुए कहता हूँ जो इस तरह के निष्कर्षों के साथ एक लेखक पर मँडराना आरम्भ कर देते हैं। होरी अपने चारों तरफ के कसे बंधनों का अहसास कराता है। परंतु वह उनके प्रति जागृत नहीं। न उन्हें तोड़ने के लिये प्रयत्नशील है। अपने बँधे होने के अहसास को आस्था का अंग बनाने वाला व्यक्ति स्वतंत्रता के महत्त्व का जितना अहसास कराता है, उतना ही अहसास वह पात्र भी कराता है, जो परतंत्रता को जानता है और अपने बंधनों को तोड़ने के लिए नियोजित ढंग से अपना विद्रोह सँजोता है। चाहे वह व्यक्तिगत हो, चाहे पारिवारिक। चाहे सामाजिक हो चाहे शैक्षिक। यानी जिसका तकाजा हर उस स्थिति से है जो उसकी स्वतंत्रता में बाधक होती है और रूढ़ि बनकर उसके विरोध में खड़ी हो जाती है। ऐसे पात्र का संत्रास भी किसी से कम नहीं। सामाजिक कारणों से, परंपराओं के दबाव में जो व्यक्ति या पात्र उनके खिलाफ संघर्ष करता है वह व्यक्तिगत संघर्ष न होकर एक सामाजिक संघर्ष ही है।

शेखर के बचपन का एक दृश्य है। श्रीनगर में वायसराय का दौरा था। कश्मीरियों की भीड़ वायसराय के स्वागत के लिए पैरहन और कुल्ला पहने जमा थी। एकाएक नदी के दोनों ओर मानो बादल गरज उठे, और गर्जन ताल पर चलने लगा।... पुरुष और स्त्री (सिवा उन सफेद पगड़ी वाले पण्डितों के) ताल से छाती पीटने लगे—भत्त खुदाया, भत्त खुदाया।

पिता ने बताया कि युद्ध के कारण महँगी बहुत हो गई है और ये लोग भूखे मर रहे हैं। वायसराय सम्राट् का प्रतिनिधि है, सब कुछ कर सकता है, इसलिए वे लोग उसी की फरियाद करने आये थे—भात के लिए।

"सिवा उन सफेद पगड़ी वाले पंडितों के" लिखकर लेखक ने 'हैव्ज और हैव नाट्स' का स्पष्ट विभाजन कर दिया। यह बताने के लिए कि जरूरतमंद आदमी आवाज उठाता है और समृद्ध व्यक्ति खामोश रहकर 'हैव नाट्स' के साथ असहयोग करता है। अज्ञेय को प्रेमचन्द की परंपरा से अलग करके देखना उन दो कड़ियों को अलग करना है जो अपने-अपने समाज को पहचानते हैं और अपने उपकरणों के माध्यम से व्याख्यायित करते हैं।

शेखर ईश्वर की मान्यता या सत्ता के खिलाफ विद्रोह करने वाला हिन्दी-साहित्य का पहला पढ़ा-लिखा पात्र है। पढ़े-लिखे लोग ज्यादातर बुज़दिल होते हैं। बालक होते हुए भी ईश्वर को लेकर उसके मन में उठने वाले प्रश्न स्वाभाविक हैं। वह अंत में इस नतीजे पर पहुँचता है—"मैं ईश्वर को नहीं मानता। मैं प्रार्थना भी नहीं मानता ! भवानी झूठी है। ईश्वर झूठा है ! ईश्वर नहीं है।" (पृ० -91 प्रथम भाग) यह अवज्ञा ईश्वर की हो ऐसा नहीं। पिता की सत्ता की अवहेलना करके शेखर इस नतीजे पर पहुँचता है कि उसके लिए ईश्वर नहीं। जबकि ईश्वर उसके पिता, उसकी

माता और भाइयों-बहनों के लिए है। बेंत से पिटने पर वह विश्वास के लिए पिटने का प्रज्ज्वलित आनन्द, अपूर्व विजय, आत्म-सम्मान की लहर अनुभव करता है। इसी का नाम विद्रोह है, जो मनुष्य यथावतता से बाहर निकलने के लिए करता है। यह पूरी प्रक्रिया समाज के प्रति समर्पित एक क्रांतिकारी के बनने की प्रक्रिया है। जो शेखर है। होरी नहीं है। फिर भी होरी व्यवस्था के विरुद्ध पाठक के मन में विद्रोह और विकर्षण उत्पन्न करने वाला सशक्त पात्र है।

जब उसकी बहन कमला का जन्म होता है तो भी उसकी समझ में यही आता है कि सब झूठ है। ईश्वर नहीं है। वह पक्षी नहीं। पक्षी झूठ नहीं बोलते, उनका तो ईश्वर नहीं है—नहीं है ईश्वर नहीं है।"

कई बार विश्वास का उठ जाना विचार की स्थितियाँ उत्पन्न कर देता है। शेखर जहाँ ईश्वर के अस्तित्व या कहिये होने को नकारता है वहीं वह मनुष्य के प्रति अपने विश्वास को भी टटोलता है और वह बालक शेखर इस नतीजे पर पहुँचता है "कोई किसी का नहीं है—यदि किसी का कोई है तो उसकी अपनी बुद्धि, मनुष्य को उसी के सहारे चलना है, उसी के सहारे जीना है—"बालपन में हुआ यह अहसास ही उसे जीवन भर के लिए विद्रोही बना देता है।"

"वह मन चला, उद्धत, सबसे अलग रहने वाला अड़ियल टट्टू हो गया। और उसे सीधे करने के जो उपचार किए गए, उनका भी उलटा असर हुआ।" (पृ० 93 प्र० भा०)

शेखर का जिस प्रकार का विद्रोही व्यक्तित्व उपन्यास में विकसित हुआ है वह आद्योपांत वैसा ही बना रहता है। वह किसी भी तरह का व्यवहार जिसे वह अन्याय समझता है गले से नीचे नहीं उतर पाता। स्कूल में भी मानीटर होने के बावजूद वह मास्टर जी के विलम्ब से आने के प्रति एक बाजारू काश्मीरी गीत गवाकर, अपना विरोध प्रकट करता है। मास्टर के मुर्गा बना देने पर वह जब उठता है तो इस तरह उठता है कि जानबूझ कर उलट जाता है और उसके फुल-बूट जाकर मास्टर के पेट में लगते हैं। जब मास्टर कहता है, "देखूँगा तुम्हें" तो शेखर ऐसे स्वर में "तुम उल्लू" कहता है जैसे किसी कीड़े को कह रहा हो। उसका यह विद्रोह कभी-कभी उद्दंडता की सीमा तक पहुँचा हुआ लगता है, जो शायद परंपरागत रूप से मान्य नहीं लगता।

उसमें त्रुटियाँ अनेक रह गईं, लेकिन एक शक्ति भी उसने पायी जो स्कूलों में कम मिलती है, उसने अकेले होने की सामर्थ्य पायी। स्कूलों में "टाइप" बनते हैं, वह बना व्यक्ति क्या टाइप बनना ही सामाजिकता है? व्यक्ति बनना समाज विरोधी होना होता है ? दरअसल क्रांति के लिए मनुष्य का व्यक्ति बनना जरूरी है। सुभाष, भगत सिंह, गांधी, माओ, लेनिन आदि ये सब व्यक्ति बने। टाइप नहीं। टाइप द्रष्टा नहीं हो पाता। अनुगामी भले ही हो जाये। होरी भी व्यक्ति ही है। लेकिन उसके अपने समाज को देखते हुए वह टाइप भी है। सहिष्णुता की दृष्टि से उसमें अदम्य क्षमता है। वह अक्षमता उसे टाइप होने के बावजूद व्यक्ति के रूप में स्थापित कर देती है। उसका संघर्ष उस युग के हजारों-लाखों किसानों का संघर्ष है। लेकिन जैसे ही लेखक उसे उन हजारों "टाइप" किसानों में से निकालकर अलग रख देता है वैसे ही वह व्यक्ति हो जाता है। हांडी का चावल। सक्षम लेखक का संस्पर्श "टाइप" को "व्यक्ति" में परिणित कर देता है। दरअसल पूरा-का-पूरा समाज या समूह साहित्य में व्यक्ति चरित्र या चरित्रों के माध्यम से जाना, समझा और अभिव्यक्त किया जाता है। साहित्य में मात्र समूह की कोई पहचान तब तक नहीं बनती जब तक वह व्यक्ति चरित्रों के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं होता। होरी और शेखर में यही अन्तर है। होरी टाइप में से उत्पन्न व्यक्ति चरित्र है और शेखर

मूलभूत—"व्यक्ति" है। जो अकेला रहने की सामर्थ्य अर्जित कर चुका। वह अकेला इसलिए नहीं रहता कि वह समाज विरोधी है, बल्कि इसलिए अकेला रहता है क्योंकि उसके उद्देश्य बिल्कुल भिन्न हैं। उसके उद्देश्य का पता दूसरे भाग में ज्यादा स्पष्ट होता है।

वह कहता है—"मैं मेहनत उद्देश्य से ही कर रहा हूँ।"

"मैंने तो साहित्य का क्षेत्र चुना है।" (पृ० -136, दू० भाग)

साहित्यकार होना ही एक सामाजिक फिनामिना है। शायद इससे बड़ी सामाजिकता दूसरी नहीं। बिना सामाजिक सरोकार के कोई लेखक हो सकता है यह राजनीतिक कारणों से तो भले ही सोचा जा सके परंतु वैसे इस तरह का सोच नकारात्मक सोच ही कहलायेगा। शेखर का हिन्दी में लिखने का निर्णय लेना और अभिमान के साथ यह कहना "हिन्दी जनभाषा है। करोड़ों व्यक्तियों के प्राण इसमें बोलते हैं।" (पृ० 137, वही) किसी भी सामाजिक चेतना से कम बड़ी चेतना नहीं।

शेखर का जीवन दर्शन "टाइप" नहीं। टाइप से एकदम भिन्न है। क्योंकि वह टाइप जीवन को जीवन नहीं मानता। वह सिक्योरिटी का जीवन न जीकर एक संघर्षमय जीवन जीना चाहता है और शायद उसका यही पक्ष उसे क्रांतिकारी भी बनाता है। वह अपने पिता से कहता है "ठीक है। पर मैं सिक्योर होना नहीं चाहता। आप घर-गृहस्थी, निश्चित आमदनी और सिक्योरिटी की बात कहते हैं, मुझे यही जीवन के रोग लगते हैं—इन्हीं से तो मैं बचना चाहता हूँ। यह चैन की जिन्दगी, यह आश्वासन का भाव, यह दिनों-दिन जोखम की अनुपस्थिति, यही तो घुन है जो जीवन की शक्ति को खा जाता है। मैं इन सबको उलटा चाहता हूँ, चाहता हूँ निरंतर आशंका और जोखम का वातावरण ताकि मैं हर समय लड़ने को बाध्य होऊँ, अपने हाथ से तोड़कर नष्ट करूँ और अपने ही हाथ से फिर नये सिरे से बनाऊँ।" क्रांतिकारी भी यही करता है। वह जोखम का वातावरण पसन्द करता है। लड़ने को तैयार रहता है। आशंकाओं से घिरा रहता है। सब कुछ तोड़ डालना चाहता है, जिससे एक नया समाज बने। उस तोड़-फोड़ और संहार के पीछे उसका यही सर्वोच्च सामाजिक उद्देश्य होता है। उसके इस सोच का एक कारण है। सिक्युरिटी सुख-शांति और उन्नति आदि सब बचपन की उम्र को लम्बा करने वाले लगते हैं। सभ्यता को वह परावलम्बी बनाता है। वह पिता से पूछता है—"सभ्यता का क्या यही अर्थ होना चाहिए कि जीवन की ललकार अनसुनी कर दी जाय, बढ़कर उससे टक्कर लेने की शक्ति को कुचल दिया जाय?" (पृ० -142, वही) इस सामाजिक बोध का होना समाज के प्रति शेखर की प्रतिबद्धता का प्रमाण है।

गोदान का होरी भी संघर्ष का अंतिम उदाहरण है। परंतु उसका संघर्ष परिस्थितिजन्य संघर्ष है, तत्कालीन सामाजिक स्थितियाँ और वर्ग उस संघर्ष को उस पर थोपते हैं। और वह अपने युग के अनेक किसानों की तरह उस संघर्ष को स्वीकार करके, उसके प्रति नतमस्तक होकर उसे स्वीकार करता है, उसे कर्मों का भोग मानता है। वह एक अच्छे भविष्य की कामना में अन्धकारमय भविष्य की ओर धकिलता चला जाता है। गाय का खरीदा जाना भी सुख की उसी परिकल्पना को पल्लवित करने का प्रयास है। लेकिन उसके भाई की पत्नी उसे भी नहीं रहने देती। होरी उसे भी यथावत स्वीकार करने के लिए बाध्य है। शेखर 'गोदान' की प्रतिक्रिया लगता है जो सिक्योरिटी सुख-शांति और उन्नति को अस्वीकार करके "हर समय लड़ने को बाध्य" होना चाहता है। अपने हाथों ऐसे समाज को तोड़कर एक नया समाज बनाने का स्वप्न

देखता है। यह उसके व्यक्तित्व का सबसे पुष्ट पहलू है जो अपने से पहले के सब औपन्यासिक व्यक्ति-चरित्रों से भिन्न है !

ऐसा नहीं कि उसके मन में दया-माया या ममता नहीं। जेल में रहते हुए भी उसका एक सामाजिक परिवेश है। बाबा मदन सिंह से उसकी पटरी बैठती है क्योंकि वे मानते हैं "दासता—एकदम घृणित परवशता—और किसे कहते हैं? अप्रिय के ज्ञान को नहीं, असत्य में विश्वास को भी नहीं, दासता कहते हैं उस अवस्था को जिसमें हम सत्य और असत्य को जानने में असमर्थ हो जाते हैं, दासता वह बन्धन, वह मनाही, जो हमारा ज्ञान माँगने का अधिकार छीन लेती है।" (पृ०-95 दू० भा०) शेखर इस वास्तविकता का साक्षात्कार अपने जीवन में कर चुका है। बाबा के मरने पर पहली बार उसके मन में प्रार्थना का भाव उमड़ता है। वह उनके अंतिम सूत्र को याद कर सकता है "अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है, पर दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है—" यह दर्द और विश्वास उसके व्यक्तिगत दर्द या विश्वास नहीं बल्कि वे सब समाज से जुड़े हुए हैं। चटगाँव की विभीषिका के माध्यम से बाबा स्वयं भी उस सामाजिक त्रासदी का साक्षात्कार करते हैं और शेखर को भी कराते हैं। समाज का ही दूसरा प्रतिनिधि मोहम्मद मोहसिन है, जो जेल के किसी भी नियम को नहीं मानता। उसमें सहनशीलता और विद्रोह का विचित्र समन्वय है। वह सजा के तहत दिये जाने वाले टाट के कपड़े नहीं पहनता। कोड़े खाने और खाल उधड़ जाने के बावजूद वह निर्वस्त्र रहता है। उसे छूत की बीमारी वाली काल कोठरी में डाल दिया जाता है, उससे भी उसे भय नहीं लगता। वह हर हाल में हँसता और गाता रहता है। उसकी हर बात पर सजा बढ़ती जाती है, पर वह निर्द्वन्द्व है। यह उसका सोचा-समझा विद्रोह है। शेखर की तरह। अन्ततः उसे टी० बी० हो जाती है और घर के जिले की जेल में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। वह अपराजित बना रहता है। इसी प्रकार राम जी नाम का जाट जेल में आता है। वह अपनी भाभी और उसके प्रेमी के विरुद्ध स्वयं न्याय करता है और उन्हें गँडासे से काटकर कचहरी में हाजिर हो जाता है। वह उस कृत्य के लिए तनिक भी शर्मिन्दा नहीं है। वह अपने तईं पूरी तरह ईमानदार है। उस पर उसे गर्व है। ये सब समाज के वे गहरे रंग हैं जिन्हें मनुष्य किसी भी समाज में घुसकर ही देख सकता है। जब तक वह उसका भोक्ता नहीं बनता तब तक उसकी बारीकियों से भी परिचित नहीं होता। शेखर उस समाज का अविभाज्य अंग है।

आत्मबलिदान को लेकर अपना रास्ता खुद खोजने वाली बात को वह दोनों तरह से तोलने की कोशिश करता है। यह व्यक्तिगत प्रश्न है या सामाजिक उत्तरदायित्व? यह प्रश्न उठना ही है चरित्र की सामाजिक संलग्नता को रेखांकित करता है।

शेखर के व्यक्तिगत पक्ष भी हैं—शारदा और शशि से उसका नाता व्यक्तिगत है। वह नाता उसे सामाजिक संघर्ष के लिए प्रेरित करता है। माँ, बाप, भाइयों से उसका रिश्ता उसे इसलिए प्रभावित नहीं करता क्योंकि वह उसे सामाजिकता से काटता है, सामाजिक दायित्व के निर्वाह के प्रति या तो विरत करता है या फिर उदासीनता अख्तियार कर लेता है। जबकि बाबा, मोहसिन और राम जी उसको अन्तर्दृष्टि देते हैं और उसके सोच को स्पष्ट करने में मदद करते हैं।

होरी की दृष्टि सामाजिक दायित्वों के प्रति स्पष्ट नहीं है। अगर है तो उसकी पत्नी झुनिया की। मैं शेखर और होरी का इसलिए जिक्र कर रहा हूँ कि ये स्वतंत्रता पूर्व के या उसके आस-पास के निर्मित दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चरित्र हैं। इतने अन्तर्विरोधों और घात-प्रतिघात को

सहन करने वाले दूसरे चरित्र शायद हिन्दी में कम ही हों। इन दोनों चरित्रों का अपना-अपना सामाजिक महत्त्व है। होरी सामाजिक दायित्वों के प्रति अनभिज्ञ होते हुए भी एक सम्पूर्ण समाज की तस्वीर प्रस्तुत करता है और शेखर अपने सामाजिक दायित्वों के साथ दो-चार होता हुआ अपने व्यक्ति को व्यक्तिगत स्तर पर भी और सामाजिक अन्तर्विरोधों के स्तर पर हार-जीत की कसौटी पर कसता है। शेखर यद्यपि व्यक्ति-चरित्र है परंतु उसका सामाजिक सरोकार सोचा-समझा है। शायद राजनीतिक, सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं से जूझते एक शिक्षित और विद्रोही युवा का चित्रण हिन्दी साहित्य में पहली बार हुआ है। बावजूद सारी प्रचलित मान्यताओं, आरोपों और व्यक्तिगतताओं के, शेखर हिन्दी-साहित्य का एक ऐसा शिखर चरित्र है जिसके स्पष्ट सामाजिक सरोकार हैं और उनके प्रति वह पूरी तरह समर्पित है।

□□□

रमेशचन्द्र शाह

शेखर : एक जीवनी : : एक मूल्यांकन

भग्नदूत और चिन्ता का प्रकाशन हिन्दी साहित्य के लिए सनसनीखेज घटना नहीं बना, किन्तु 'शेखर : एक जीवनी' के छपते ही तहलका मच गया। 'शेखर' में आखिर ऐसा क्या था ?

हमने देखा कि 'चिन्ता' के कवि का कथ्य छायावादी उस तरह नहीं था। भावनाओं के चित्रण में वहाँ एक नये किस्म की तात्कालिकता और तीव्रता थी—मानो वे भावनाएँ नहीं, भाव-जगत् में उथल-पुथल मचानेवाली घटनाएँ हों। उन घटनाओं का चिन्तन भी छायावादी चिन्तनशीलता से भिन्न था। किन्तु इस भिन्नता की ओर लोगों का ध्यान नहीं गया। इसलिए कि उन कविताओं की भाषा अभी छायावादी काव्यभाषा से मुक्त नहीं हो पायी थी। शायद इसीलिए उसमें अतिरिक्त भावुकता और अतिरिक्त बौद्धिकता प्रतीत हुई होगी। तब तक छायावादी काव्य की संभावनाएँ चुक गयी थीं ; प्रगतिवादी कविताओं की बाढ़ आयी हुई थी। अन्तर्जगत् से लोग ऊब चुके थे। ऐसे में 'चिन्ता' पर ध्यान कैसे जाता ? छायावादी शब्दावली के अन्तराल में छुपी उस नयी विद्रोही अनुभूति के कथ्य से लोग कैसे संवेदित होते? 'चिन्ता' के पीछे भी कहीं व्यक्तित्व की खोज का ही आत्मसंघर्ष था। किन्तु वह व्यक्तित्व अभी अस्फुट था, वह खोज भी अनुभव के एक ही आयाम पर केन्द्रित थी, जिसे छायावाद ने अपने समय में एक खास लीक पर डाल दिया था। 'शेखर : एक जीवनी' में एक व्यक्तित्व के बनने की अनिवार्य प्रक्रिया पहली बार उद्घाटित हुई।

पश्चिम के साहित्य में व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया पर खास जोर दिया जाता रहा है। अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यास आत्मकथात्मक रहे हैं। ठेठ आधुनिक साहित्य में भी ज्वाइस के 'पोर्टेट आव ए यंग आर्टिस्ट' अथवा मार्सेल प्रूस्त के 'रिमेम्ब्रेंस आव थिंग्ज पास्ट' अथवा लारेंस के 'सन्स एण्ड लवर्स' सरीखी कलाकार-व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया को बारीकियों में उद्घाटित करने वाली कृतियों का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा है। हमारी परम्परा में व्यक्ति अपने आपमें उस तरह साहित्यिक जिज्ञासा के केन्द्र में कभी रहा नहीं। इसलिए भी 'शेखर : एक जीवनी' हिन्दी कथा-साहित्य में एक अभूतपूर्व-सी घटना थी। एक निर्वैयक्तिक परम्परा के मानस की भाषा को—संस्कृत शब्दावली को—वैयक्तिक 'अहं' के सूक्ष्म-चित्रण में सक्षम बना देना भी इस उपन्यास की उपलब्धि थी। इसके अलावा काल और चेतना के सम्बन्ध को उपन्यास के रचना-विधान में कुशलपूर्वक विश्वसनीय ढंग से निभा पाना भी। प्राकृतिक परिवेश भी इस तरह पहले कभी चित्त की अवस्थाओं के संवेदनशील सूक्ष्म चित्रण के लिए प्रयुक्त नहीं हो पाया था।

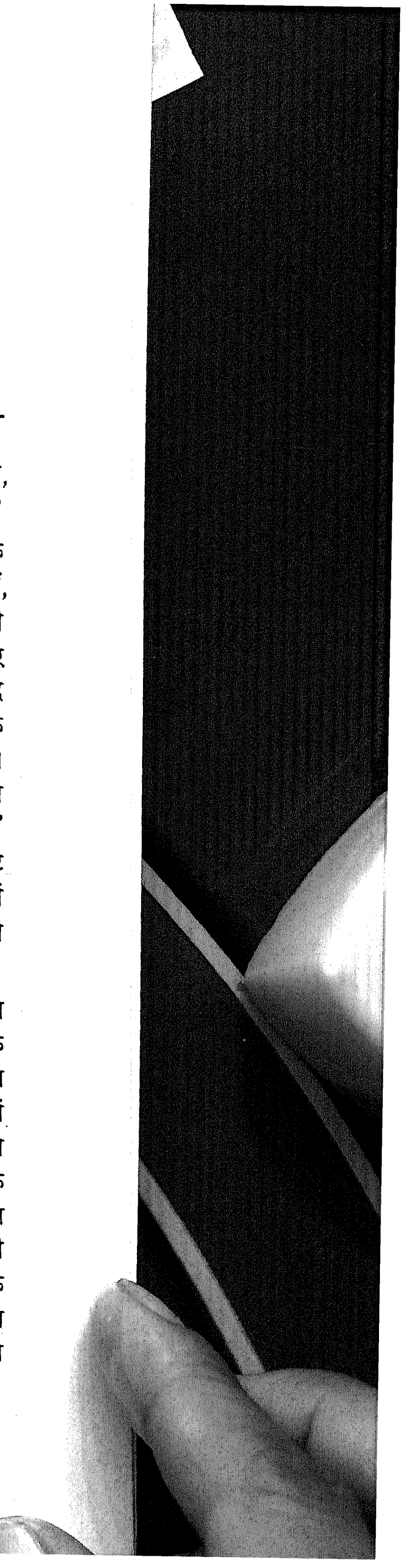

लेखक की स्वयं की आत्म-स्वीकृति के अनुसार 'शेखर' घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे गये 'विज़न' को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है। उपन्यास का पहला ही वाक्य एक शब्द है—'फाँसी'। शेखर इस आसन्न संभावना के सामने खड़ा है कि उसे फाँसी हो सकती है। तब इस क्रांतिकारी लेखक के सामने उसकी स्थिति एक समस्या के रूप में प्रस्तुत हुई। अगर यही उसके जीवन का अन्त है तो उस जीवन का अर्थ क्या है, सिद्धि क्या है—व्यक्ति, समाज और मानव के लिए ?..."इस जिज्ञासा की अनासक्त निर्ममता और यातना की सर्वभेदी दृष्टि के आगे मेरा जीवन धीरे-धीरे खुलने लगा, एक निजी और अप्रासंगिक विसंगति के रूप में नहीं, एक घटना के रूप में, एक सामाजिक तथ्य के रूप में, और धीरे-धीरे कार्य-कारण परम्परा के सूत्र सुलझ-सुलझकर हाथ में आने लगे।"—यह स्वयं लेखक का कथन है उपन्यास की भूमिका में।

'शेखर : एक जीवनी' का क्रांतिकारी नायक अपने जीवन में इसी नियति के सूत्र को पहचानने का यत्न करता है—'जीवन की विज्ञान संगत कार्य-कारण-परम्परा' को। प्रौढ़ अज्ञेय के जीवन-दर्शन का सूत्र है : 'जो मैं हूँ, वही मैं बन जाऊँ'। इसमें और शेखर के नियति-दर्शन में अन्तर तो अवश्य होना चाहिए क्योंकि लेखक स्वयं शेखर से अलग खड़ा होकर उसके 'हेतुवाद' की आलोचना तभी करने लगा था। किन्तु तब, फिर लगभग यही वाक्य शेखर के मुख से एक जगह क्यों कहलवाया गया, यह समझ में नहीं आता। यह तो स्पष्ट ही है कि शेखर का स्रष्टा 'आँगन के पार द्वार' तक आते-आते इस हेतुवाद को बहुत पीछे छोड़ आया था और यह पहचानने लगा था कि—

कहीं बड़े गहरे में
स्वैर हैं सभी नियम
सभी सर्जन केवल
आँचल पसार कर लेना

—(आँगन के पार द्वार)

अपनी भूमिका में लेखक ने आत्म-घटित और आत्मानुभूति के बीच अन्तर किया है—इलियट की उक्ति को उद्धृत करते हुए कि "भोगनेवाले प्राणी और रचने वाले कलाकार के बीच सदा अन्तर रहता है और जितना बड़ा कलाकर होता है, उतना ही भारी यह अन्तर होगा।" लेखक ने यह भी स्वीकार किया है कि "शेखर में मेरापन कुछ अधिक है, इलियट का आदर्श मुझसे नहीं निभ सका है।" यह भी कि "शेखर एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज है, किन्तु साथ ही उस व्यक्ति के युग-संघर्ष का प्रतिबिम्ब भी है।"

उपन्यास के तीन भागों का उल्लेख भी भूमिका में किया गया था। किन्तु तीसरा भाग लेखक के जीवन काल में तो नहीं ही छपा। दोनों भागों में चार-चार खण्ड हैं। प्रथम भाग में 'प्रवेश' समूचे उपन्यास के सार-समुच्चय की तरह विन्यस्त है, जिसमें शेखर की स्मृति किसी पूर्वापर संगति में नहीं, बल्कि भावाविष्ट कल्पना की कौंध की तरह काम करती दिखायी गयी है। इस अत्यन्त प्रभावशाली 'प्रवेश' के उपरान्त ही नियमित कथा-प्रवाह आरम्भ होता है। 'ऊषा और ईश्वर', 'बीज और अंकुर', 'प्रकृति और पुरुष' तथा 'पुरुष और परिस्थिति' ये चार खण्ड अपने शीर्षकों की सांकेतिक व्यंजना के अनुरूप बड़े सुनियोजित ढंग से शेखर को शैशव से छात्रावस्था तक ले आते हैं। वह छात्रावस्था शेखर के राजनीतिक बन्दी बनने तक दूसरे भाग में भी 'पुरुष और परिस्थिति' शीर्षक पहले खण्ड के अन्तर्गत जारी रहता है। बन्दी जीवन के

अनुभव दूसरे खण्ड—'बन्धन और जिज्ञासा' में समाकलित हुए हैं। तीसरे खण्ड का नाम 'शशि और शेखर' है तथा चौथे का 'धागे, रस्सियाँ, गुंझर'। उपन्यास के 'प्रवेश' में शेखर द्वारा अपने जीवन के प्रत्यवलोकन के सिलसिले में शशि से ही आरम्भ करना संगीत के मुखड़े की तरह अनिवार्य लग उठता है :

"सबसे पहले तुम, शशि

इसलिए नहीं कि तुम जीवन में सबसे पहले आयी या कि तुम सबसे ताजी स्मृति हो। इसलिए कि मेरा होना अनिवार्य रूप से तुम्हारे होने को लेकर है...ठीक वैसे ही, जैसे तलवार में धार होना सान की पूर्व कल्पना करता है। तुम वह सान रही हो, जिस पर मेरा जीवन बराबर चढ़ाया जाकर तेज होता रहा है—जिस पर मँज-मँजकर मैं कुछ बना हूँ जो संसार के आगे खड़ा होने में लज्जित नहीं है।"

'प्रवेश' के इस स्मरण में शशि के पूरे जीवन की मानो एक कौंध में देखी गयी कई छवियाँ मूर्त्त हो आयी हैं : लगभग उलटे क्रम में। शेखर के सामने ही शशि की अन्तिम घड़ियों का चित्र, जेल से निकलकर पहली बार शशि से शेखर की भेंट, शशि की ससुराल का चित्र, माँ के साथ शशि के पहलेवाले घर का और उस घर की 'देवी' के रूप में शशि का स्मरण, शशि के गाने का स्मरण, यह भी कि विद्रोही शेखर के लिए प्रेरणा बनी थी यह गानेवाली शशि, किन्तु कवि शेखर के लिए शशि की 'हँसी' प्रेरणा है। अन्त में, फिर से आसन्न बिछोह की वेदना में एक काव्य-पंक्ति उभरती है—'चक्रवाकवधुके ! आमंत्रयस्व सहचरं। उपस्थिता रजनी।' 'चिन्ता' की एक कविता का आरम्भ भी इसी पंक्ति से होता है।

वैसे उपन्यास का सबसे रोचक, सजीव और प्रभावशाली हिस्सा तो वही है जो शेखर के बाल्यकाल की घटनाओं से जुड़ा है। मानसबल झील पर बाल्यकाल की एक यात्रा से कथा आरम्भ होती है। शेखर अपनी बहिन के साथ बजरे में बैठा है। उसकी आयु कोई आठ-एक वर्ष की होगी, बहिन की तेरह वर्ष। बहिन रघुवंश का एक श्लोक गा रही है। बालक झील में से श्वेत कमल तोड़-तोड़कर माला गूँथता है और बहिन सरस्वती को पहना देता है। प्रवेश में पहली घटना यही है जो उपन्यास के कलेवर में काफी बाद में आती है। उपन्यास में कथा-प्रवाह का आरम्भ खँडहरों से लगे एक खेमें में शेखर के जन्म से ही होता है। इस प्रसंग का समापन होता है इस आलोचनात्मक वाक्य में, कि 'बोध होने से पहले ही बालक का जीवन एक रूढ़ि में बँध गया।'

तदुपरांत मानव जीवन का अनुशासन करनेवाली तीन महती प्रेरणाओं (अहन्ता, भय और सेक्स) से सम्बद्ध तीन घटनाएँ आती हैं : एक तो लेटरबॉक्स के घोड़े की सवारी, दूसरे भुस भरे बाघ की असलियत का उद्घाटन होने पर शेखर की प्रतिक्रिया तथा तीसरे—'एक भद्दी बीभत्स स्मृति' जिसका खुलासा नहीं किया गया। इसके बाद 'शिक्षा' का दौर आता है और विद्रोही बालक द्वारा उसके क्रमिक तिरस्कार की घटनाएँ। फिर पालतू पक्षियों के निरीक्षण से शेखर एक और संसार का साक्षात्कार करता है जिसमें स्वच्छन्दता है और विश्वास जिसका एकमात्र नियम है।..."वही होओ जोकि तुम हो।"...मानव जगत् में इसके विपरीत शेखर को अन्याय, भेद-भाव, अन्धविश्वास का परिचय मिलता है। फूलाँ नामक एक विधवा की लड़की का संक्षिप्त वृत्तान्त जितना मार्मिक है उतना ही रसोइया महाराज की कथा हास्यास्पद। छोटे से छोटे मनुष्य में भी आत्माभिमान की उपस्थिति का प्रमाण शेखर को कुछ आश्वासन देता है। इसी तरह एक सुन्दर

घोड़े को दौड़ते हुए देखना बालक शेखर के लिए लय के सौंदर्य-तत्त्व से पहला साक्षात्कार है।..."शायद तभी से यह जीवन सर्वत्र उस वस्तु को खोजने लगा"...वृत्तकार शेखर स्वयं कहता है। लेखकत्व का शौक भी उसका पाँच वर्ष की उम्र में ही जाग जाता है और वह पुस्तक-प्रकरण बड़ा दिलचस्प है। उसी के आस-पास चार बरस के शेखर की भेंट तीन बरस की 'शिशु-सखी शशि' से होती है, जिसमें शेखर शशि के हाथ से लोटा छीनकर उसके माथे पर दे मारता है। इसके दूसरे दिन ही मौसी शशि को लेकर चली जाती है और फिर पूरे बारह साल तक शशि से भेंट नहीं हो पाती।

शेखर के जीवन में मातृपक्ष की भूमिका अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। कुछ घटनाएँ हैं माँ के उस पर अविश्वास की, जिससे उसे चोट पहुँचती है, घृणा हो जाती है। उसी के शब्दों में—"पिता आवेश में आततायी हैं और, माँ आवेश की कमी के कारण निर्दय।" किंतु आवेश उतर जाने पर पिता मित्रवत् लगने लगते हैं। शेखर को अपने पिता से सहानुभूति है, माँ से नहीं। किंतु एक घटना ऐसी घटती है जिसके कारण पिता भी शेखर की नजरों में गिर जाते हैं। गाँधीजी की अहिंसा को लेकर बालक शेखर की जो भद्द उड़ती है पिता के एक मित्र के सामने, उसके बाद—"गाँधीजी गये, गाँधीवाद भी गया और शेखर के देवता उसके पिता भी फिर वही कभी नहीं हुए।"

इन अनुभवों ने शेखर को बेध्य और विद्रोही बना डाला।..."ईश्वर को और अपने जीवन को नाऽस्ति कहकर शेखर मानो अपने चारों ओर के जीवन के लिए नंगा हो गया।" छोटी बहिन का जन्म होने पर उसके भीतर फिर वही दुर्दान्त प्रश्न 'कैसे' सिर उठाता है जिसका संतोषजनक उत्तर कोई नहीं देता। एक बड़ी बहिन ही घर में उससे सहानुभूति रखती है। भाई उसे 'बहिन जी की दुम' कहके चिढ़ाते हैं। इतने में बहिन की भी शादी हो जाती है। शेखर अकेला पड़ जाता है। एक लड़की शारदा उसके जीवन में आती है। शेखर लाहौर जाता है मैट्रिक की परीक्षा देने और जब तक लौट के आता है तब तक वह भी 'गरुड़-नीड़' से विदा हो चुकी होती है। वर्षों बाद एक बार फिर उससे भेंट भी होती है। पर निष्फल।

'मैं क्यों हार मानूँ ?'—माँ के अविश्वास की असह्य चोट से तिलमिलाकर शेखर सोचता है। "मैं योग्य बनूँगा। सारे संसार का आदर और विश्वास पाकर उसे माँ के मुँह पर पटक दूँगा।" शेखर घृणा और वासना का महत्त्व लगभग एक साथ पहचानता है। विवाहितों के लिए लिखी गयी एक पुस्तक उसके पढ़ने में आती है और उसे धक्का लगता है कि "सारी चीजों की गति एक ही घृणित पाप कर्म की ओर है।...यह है ज्ञान, यह है सत्य।" इसके आगे—स्वयं उपन्यासकार के शब्दों में—"इसके आगे अंधकार का एक परदा है। व्यक्ति का अभिन्नतम अंग"। यहाँ पर रोमां रोलां का एक वाक्य शेखर उद्धृत करता है—"सत्य उनके लिए है, जिनमें उसे सह लेने की शक्ति है।"

पन्द्रह वर्ष का शेखर अब मद्रास में पढ़ रहा है। वहाँ भी सवर्णों से विद्रोह करके अछूतों के हॉस्टल में चला जाता है। यहाँ उसे सदाशिव सरीखे कुछ अच्छे मित्र मिलते हैं जिनके साथ मिलकर वह समाज-सुधार के कुछ कार्यक्रम भी चलाता है। उपन्यास का पहला भाग इसी बिन्दु पर समाप्त होता है।

दूसरे भाग के आरम्भ में शेखर नीलगिरि छोड़कर पंजाब की ओर प्रस्थान करता दिखायी देता है। उसके पिता का तबादला हो गया है। लाहौर के छात्रावास जीवन में वह दो दलों के

सम्पर्क में आता है। एक दल में सभ्यता के सुधार की धूम है पर वे शेखर को 'सदिच्छाओं के बलहीन पुंज' जान पड़ते हैं। शशि से भेंट होती है जो उससे कहती है, 'दुःख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है जो उसे दूर करने की कोशिश करता है।' लाहौर कांग्रेस में स्वयंसेवकी करते हुए एक झगड़े के कारण शेखर गिरफ्तार करके जेल भेज दिया जाता है। जेल में बाबा मदनसिंह, रामजी और मोहसिन से भेंट होती है। शशि का पत्र आता है कि उसका विवाह तय किया जा रहा है। शेखर शशि के अन्तर्द्वन्द्व को पर्याप्त अन्तर्दृष्टि के साथ नहीं समझ पाता और दोनों सूरतों में सहानुभूति का वचन देता है लेकिन बाद में पछताता भी है।

तृतीय खण्ड में जेल से छूटकर शेखर शशि की ससुराल में जाकर शशि और उसके पति से मिलता है। अब वह एक अलग कमरा लेकर क्रांति की प्रेरणा देने वाले साहित्य की रचना करने का संकल्प उठाता है। इस बीच शेखर की माँ का देहान्त हो जाता है। पिता उसके पास आते हैं। शेखर को समझाते हैं पर शेखर किसी भी तरह की 'सुरक्षा' के विरुद्ध खड़ा हुआ है। अनेक कड़वे अनुभवों से गुजरते हुए वह एक दिन आत्महत्या पर उतारू हो जाता है, पर किसी तरह बचा लिया जाता है। शशि उससे मिलने आयी थी और उसकी स्थिति से गहरी सहानुभूति के कारण वह उस रात वहीं रह जाती है। सुबह अपने घर लौटती है तो पति उसे घर से निकाल देता है। शेखर वहाँ जाता है तो उसका भी घोर अपमान होता है। शशि को उसके पति ने लात मारी थी जिससे उसका लीवर क्षतिग्रस्त हो जाता है। शेखर की अनवरत सेवा-शुश्रुषा से वह बीच में स्वास्थ्य-लाभ भी करती है और उसके बौद्धिक-सामाजिक क्रियाकलापों में सहयोग भी करती है किन्तु अन्ततः वह चोट उसके प्राण हर ही लेती है। शशि के जीवन की ये अन्तिम घड़ियाँ उपन्यास का मर्मस्थल हैं।..."रात मूर्त्तिमती करुणा है। शेखर, तुमने आरम्भ से ही अपनी नियति को क्यों नहीं देखा"?—शेखर सोचता है। यह भी कि "...जीवन के महान क्षणों में भी पूर्णता नहीं है। तन्मयता नहीं है। है एक अद्‌भुत असंगत तटस्थता—अपने को अपनेपन की सम्पूर्णता से बहिष्कृत कर देता दर्शकपन।"

यहाँ पर कथा-प्रवाह में एकाएक लेखक स्वयं उपस्थित होकर बोलने लगता है..."एक सीमा है जिसके आगे मैं अपनी और शेखर की दूरी बनाये नहीं रख सकता। उस दिन का भोगनेवाला और आज का वृत्तकार दोनों एक हो जाते हैं क्योंकि अन्ततः शेखर के जीवन का अर्थ मेरे ही जीवन का अर्थ है और जो सूत्र मुझे पकड़ने हैं, उनके प्रति मैं अनासक्त नहीं हूँ।"...अकस्मात् इस बिन्दु पर शशि कौंध जाती है और शेखर सोचता है—"अगर उसके जीवन की परिस्थितियाँ भिन्न होतीं !"...वह इस विडम्बना से मर्माहत अनुभव करता है कि..."उस विशाल आत्मा की सामर्थ्य को मैंने देखा जो उसके टूटने का निमित्त बना।"

स्पष्ट ही, यह शेखर के जीवन की सबसे त्रासद और अनसुलझ पहेली है। इससे आगे कथा कैसे बढ़े ? दूसरा भाग जिन वाक्यों के साथ समाप्त होता है उन्हीं में से उद्धृत करते हुए इस अध्याय को विराम देना उपयुक्त होगा।

"...इसके आगे कथा नहीं है, अनुक्रम नहीं है, जीवन ने अर्थ खो दिया है। मैं एक छाया हूँ।

छाया, यदि फिर कुछ हो तो ऐसा ही हो, हम-तुम भी ऐसे ही हों—अलग, पर सदा एक-दूसरे के प्रति अग्रसर होने में सचेष्ट।

छाया, तुम्हें भूलने नहीं जाता, तुम साथ चलो—पहले मौसी के पास और गौरा के पास,

फिर आग, कर्म में विस्मरण नहीं है। शशि, कर्म में तुम हो चिरन्तन प्रेरणा—चिरन्तन, क्योंकि मुक्त और मोक्षदा।"

क्या यह आकस्मिक है कि 'चिन्ता' काव्य का आरम्भ भी इस 'छाया' को ही सम्बोधित है ?

□□□

भोलाभाई पटेल

शेखर : एक जीवनी—दृष्टिकोण

'The whole intricate question of method, in the craft of fiction, I take to be governed by the question of the-point of view-the question of the relation in which the narrator stands to the story'.

—Percy Lubbock

(अ) उपन्यास में दृष्टिकोण का प्रश्न :

नाटक और उपन्यास में एक बहुत बड़ा अन्तर है। नाटक को हम 'दृश्यकाव्य' कहते हैं अर्थात् वह अपने आप खुलता है, प्रत्यक्ष है और परलक्षी भी। उसके पात्र, प्रसंग या स्थल आदि अपने आपको प्रकट करते हैं और दर्शकों के सामने अपने आपको प्रस्तुत करते हैं। इस अर्थ में उपन्यास परोक्ष और आत्मलक्षी है। उसके पात्र, प्रसंग या स्थल आदि पाठक के सामने सीधे प्रकट नहीं होते, किन्तु किसी अन्य चेतना के माध्यम से प्रकट होते हैं अर्थात् एक खास और आत्मलक्षी दृष्टिकोण से प्रकट होते हैं; फिर चाहे वह दृष्टिकोण लेखक का हो, या किसी पात्र का या किसी काल्पनिक चरित्रलेखक का। अतः जब उपन्यास की कला की चर्चा करते हैं तब दृष्टिकोण का प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है।

उपन्यास की आलोचना में 'दृष्टिकोण' के प्रश्न का एक छोटा-सा इतिहास है। उपन्यास कविता, नाटक आदि की तुलना में नई विधा है। सही अर्थ में उपन्यास अठारहवीं शती से लिखे जाने शुरू हुए। लेकिन उपन्यास को करीब उन्नीसवीं शती के अंत तक गम्भीर कलास्वरूप के रूप में नहीं गिना गया। उन्नतभ्रू आलोचक उपन्यास को 'अशुद्ध कलास्वरूप' मानते रहे। एक तरह से यह उपेक्षित साहित्यस्वरूप रहा। नाटक के स्वरूप को परिभाषित करने वाले भरत या एरिस्टॉटिल जैसे आचार्य उपन्यास को नहीं मिले। वैसे उपन्यास अधिकाधिक जनप्रिय साहित्यस्वरूप होता जा रहा था और उत्तम प्रतिभावाले लेखक इस स्वरूप को आजमा रहे थे।

उस समय अमेरिकी उपन्यासकार हेनरी जेम्स ने आलोचकों की इस उपेक्षावृत्ति की ओर जेहादी की। उपन्यास को एक कलास्वरूप की प्रतिष्ठा देने का श्रेय उसके प्रयत्नों को मिलना चाहिए। हेनरी जेम्स की इस कलादृष्टि का समर्थन सबसे प्रथम पर्सी लबोक (Percy Lubbock) ने अपने ग्रंथ 'द क्रॉफ्ट ऑफ फिक्शन' (The Craft of fiction) में किया। ग्रंथ 1921 में प्रकाशित हुआ था, जो उपन्यास की कला को लेकर प्रथम पूरा ग्रंथ है।

लबोक का प्रश्न रहा—उपन्यास का मूल्यांकन कैसे करना। उसके फार्म (Form) की सिद्धि का विश्लेषण कैसे करना ? हेनरी जेम्स के इस प्रशंसक ने 'दृष्टिकोण' (The point of view) का निकष उपन्यास के विश्लेषण के लिए रखा। उपन्यास की पाश्चात्य समालोचना में इस संज्ञा को उपन्यासविवेचना के एक औजार (Critical tool) के रूप में बहुत महत्त्व दिया गया है। (हिन्दी आलोचना में कई बार भ्रान्ति से जिसे शैली का एक पहलू ही मान लिया है।)

दृष्टिकोण किसी भी उपन्यास के 'फार्म' को निर्धारित करता है। या यों कहें कि उपन्यासकला में दृष्टिकोण ही उसकी रीति को निर्धारित करता है। उपन्यास में अनेक दृष्टिकोणों की संभावना होती है क्योंकि चरित्रों के पारस्परिक घात-प्रतिघात की अनेक संभावनाएँ हैं। किसी एक परिस्थिति (Situation) के उतने ही अर्थघटन हो सकते हैं, जितने उस घटना से सम्बन्धित पात्र; क्योंकि प्रत्येक पात्र का उसका अपना उस घटना में जो योग (Role) होगा, उससे प्रभावित (Coloured) और परिभाषित (Defined) होगा।

कथा कहनेवाला कथक (Narrator) कई बार बाहर से और दूरी से देखता है तो कई बार इतना निकट आता है कि उपन्यास के नायक के साथ अपने को जोड़ देता है। कई बार वह घटनाओं के प्रति ऐसे देखता है, जैसे वे अनेक वर्षों के पूर्व घटित हुई हों और कई बार ऐसा लगता है कि घटनाएँ जैसे-जैसे घटित होती जाती हैं, कथा कहनेवाला वैसे-वैसे उनका अनुभव करता जाता है। तात्पर्य यह है कि कथा कहनेवाले के और उसकी विषय-सामग्री के बीच स्थल और काल की जो दूरी रहेगी, उसी पर मुख्यतः परिप्रेक्ष्य का प्रकार निर्धारित होगा।

अनेक उपन्यासों में कथा कहनेवाला कोई अनामी कथक (Anonymous narrator) होता है जो अन्य पुरुष में कथा की घटनाओं का और पात्रों का आलेखन करता है। ऐसा कथक अपने चरित्रों पर एक 'ईश्वर' की तरह अधिष्ठित होता है और जिस तरह ईश्वर अन्तर्यामी है और सबके मन की जानता है, उसी तरह वह भी जानता है कि प्रत्येक चरित्र कब क्या सोचता है और कब क्या अनुभूत करता है। इसलिए ऐसे कथक को सर्वदर्शी (Omniscient narrator) कहते हैं। ऐसा कथक बीच-बीच में चरित्रों के व्यवहार के बारे में, घटनाओं के बारे में अपनी इच्छानुसार टीका-टिप्पणी भी करता रहता है, पाठकों को अपने दार्शनिक विचारों से लाभान्वित (!) भी करता जाता है। ये विचार कथा के पात्रों के अनुभव विश्व से बाहर के भी हो सकते हैं अर्थात् कथा की दृष्टि से परिहार्य भी।

अधिकतर उपन्यासों में ऐसा सर्वदर्शी कथाकथक का दृष्टिकोण होता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में सर्वदर्शी कथक का दृष्टिकोण है।

सर्वदर्शी कथक के दृष्टिकोण के स्थान पर कई बार लेखक सीमित दृष्टिकोण अपनाता है। यह सीमित दृष्टिकोण कभी उपन्यास के किसी एक पात्र का हो सकता है और यह पात्र नायक या नायिका भी हो सकता है और कई बार अत्यन्त गौण पात्र भी। जब नेरेटर ऐसा कोई गौण पात्र होता है तब वह उपन्यास के घटनाविश्व की सीमा पर खड़ा होता है और उसका मुख्य कार्य निरीक्षक का होता है। उपन्यास का प्रत्येक प्रसंग उसकी चेतना से गुजरता हुआ पाठक तक पहुँचता है, फिर भी वह स्वयं पर्याप्त मात्रा में अलिप्त-सा रहता है।

सीमित दृष्टिकोण में नेरेटर सर्वदर्शी दृष्टिकोण के कथक की भाँति किसी घटना या प्रसंग पर टीका-टिप्पणी नहीं करता, उतना ही नहीं, प्रधानपात्र के अनुभवविश्व के जो बाहर है उसका भी वर्णन नहीं करेगा। अर्थात् अन्य पात्रों के मानसिक प्रतिभावों का आलेखन नहीं करेगा। इस

प्रकार के आलेखन के लिए रोबर्ट हम्फ्री ने 'Indirect interior monologue'—'परोक्ष अन्तर्विवाद' संज्ञा का प्रयोग किया है।

कई बार उपन्यास को अधिक नाट्यात्मक बनाने के लिए लेखक चरित्र का नाम और वह क्या करता है वह भी बाद रख के सिर्फ उस चरित्र के मन में क्या होता है उसे ही प्रस्तुत करने तक अपने को सीमित रखता है। रोबर्ट हम्फ्री ने उसके लिए संज्ञा दी है—Direct interior monologue—'प्रत्यक्ष अंतर्विवाद'। इस प्रकार के आलेखन में कथक अदृश्य होगा। इस रीति को 'Stream of Consciousness' भी कह सकते हैं।

नेरेटर का एक रूप हमें मिलता है 'मैं' के रूप में। सर्वदर्शी नेरेटर की तरह न तो वह अनामी होता है, न तो कथा के बाहर ही। वह तो जिसका वर्णन करता है उसका कर्ता-भोक्ता होता है। इस प्रकार के दृष्टिकोण को हम 'प्रथम पुरुष' का आत्मकथनात्मक दृष्टिकोण कहेंगे।

जहाँ दृष्टिकोण प्रथम पुरुष का अर्थात् आत्मकथनात्मक होता है वहाँ अपने आप कुछ सीमाएँ स्वीकार की जाती हैं। ऐसे उपन्यासों में जो कुछ घटता है, वह नेरेटर अर्थात् कथक की उपस्थिति में ही। वह इतना ही जानता है जो उसने देखा है, या अन्य द्वारा जानकारी के रूप में उसे दिया गया हो। अतः लेखक के लिए वह आवश्यक है कि इस प्रकार के चरित्र में 'मैं' के रूप में प्रस्तुत होनेवाला चरित्र ऐसा निर्मित करे कि वह अन्त तक हमारी रुचि बनाये रखे; इतना ही नहीं सभी चरित्र उसके दृष्टिकोण से प्रस्तुत हों। इस प्रकार के उपन्यास में यथार्थ के प्रति ईमानदारी का अनुभव होता है। पाठक के रूप में हम उसमें विश्वास करते हैं और उसकी दृष्टि से देखते हैं, उसकी ही तरह दृष्टि और निर्णय की सीमितता का या अज्ञता का अनुभव करते हैं।

स्वयं अज्ञेय जी ने 'दृष्टिकोण' के प्रश्न को अपनी भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

> " 'मैं' और 'वह' के उपन्यासों की सहज सीमाएँ हो जाती हैं। कथावस्तु से—घटना से, देशकाल से और, हाँ पाठक से—दूरी का प्रश्न उसका पहलू है। कहने को यह तकनीकी प्रश्न है पर संरचना की भित्ति तकनीक पर ही होती है। फिर 'मैं' की जानकारी की सीमा होती है : बल्कि कहानी के एक पात्र का दृष्टिकोण अपना लेने पर (फिर उस पात्र को चाहे 'वह' के रूप में प्रस्तुत किया जाए) भी जानकारी की ही नहीं दृष्टि की पूर्वग्रहों और रागबन्धों की घटना के संघटन की सीमाएँ सामने आ जाती हैं।...उपन्यासकार सर्वज्ञ भी हो सकता है; उस दृष्टिबिन्दु से आरम्भ करने पर बहुत-सी सुविधाएँ उपन्यासकार को प्राप्त हो जाती हैं, पर उसकी अपनी तर्कसंगति होती है—वह 'दूरी' और 'दृष्टि' और घटना-संघटन की अपनी बाध्यताएँ साथ लाता है।"[1]

20वीं शती के उपन्यासों में 'प्रथम पुरुष' दृष्टिकोण का प्राधान्य देखने में आता है क्योंकि इस शती में सामाजिकता अधिकाधिक वैयक्तिकता में स्थिर होती जाती है। व्यक्ति की संवेदना कथा साहित्य का एक प्रधान विषय होता है और जब ऐसा विषय हो तब व्यक्ति की भीतरी तहों को उद्घाटित करने में प्रथम पुरुष का दृष्टिकोण अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है। उसके साथ पाठक एक अन्तरंगता भी महसूस करता है। 'शेखर : एक जीवनी' पढ़ते समय क्या इस प्रकार का अनुभव नहीं होता ?

इस प्रकार सीमित दृष्टिकोणवाले उपन्यासों में एक पात्र के दृष्टिकोण से आलेखन होता

1. नया प्रतीक—जुलाई 1974, पृष्ठ-62

है। या जो 'वह' होता है या 'मैं'। लेकिन दोनों में अंतर है। जैसे, 'मैं' द्वारा आलेखित अर्थात् आत्मकथनात्मक दृष्टिकोण में नायक की मृत्यु का चित्रण नहीं हो सकता, जबकि 'वह' के दृष्टिकोण से प्रस्तुत परोक्ष अंतर्विवाद में परिप्रेक्ष्य में परिवर्तन लाये बिना मृत्यु का आलेखन हो सकता है। आत्मकथनात्मक रीति में सावधानी की अधिक आवश्यकता रहती है।

डायरी या पत्र के रूप में लिखे गये उपन्यास भी एक तरह से आत्मकथनात्मक दृष्टिकोण की श्रेणी में आते हैं। यहाँ भी सीमित दृष्टिकोण ही होगा।

इस सीमित दृष्टिकोण की मर्यादा को जानकर ई. एम. फार्स्टर ने 'बदलते दृष्टिकोण'—Shifting point of view की हिमायत की है। वह लिखते हैं :

'A novelist can shift his view point if it comes of......'

इस प्रकार के दृष्टिकोण को वह 'bouncing' कहते हैं। इसमें सीमित दृष्टिकोण की सीमा को उल्लंघित किया जाता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक उपन्यास है 'घरे बाहिरे'। उसमें आत्मकथनात्मक दृष्टिकोण है, लेकिन प्रथम प्रकरण में वह दृष्टिकोण नायिका विमला का है, वह अपनी बात कहती है। फिर दूसरे प्रकरण में 'संदीप' का दृष्टिकोण है, वह अपनी बात कहता है। तीसरे प्रकरण में 'निखिल' का दृष्टिकोण है। फिर विमला का दृष्टिकोण आता है—इस तरह से दृष्टिकोण परिवर्तित होता रहता है और एक ही पात्र की चेतना के स्थान पर प्रत्येक पात्र की चेतना से किसी एक घटना को देखने का पाठक को लाभ मिलता है। एक ही घटना को विमला एक रूप में देखती है, संदीप दूसरे रूप में, निखिल तीसरे रूप में। और इस तरह से कथा आगे बढ़ती है। यहाँ दृष्टिकोण को बदलने में रवि ठाकुर का आशय सीमित दृष्टिकोण की सीमा को अतिक्रमिक करके भी, सीमित दृष्टिकोण की विश्वसनीयता और अन्तरंगता को बनाये रखना है। उपन्यास का कथा संघटन इस परिवर्तित दृष्टिकोण से नियंत्रित है।

'नदी के द्वीप' में लेखक ने सीमित दृष्टिकोण अपनाया है, (कभी-कभार बीच में सर्वदर्शी दृष्टिकोण आ गया है।) यद्यपि आत्मकथनात्मक न होकर 'वह' के रूप में है। प्रथम प्रकरण में 'वह' द्वारा भुवन का दृष्टिकोण है, तो दूसरे में चन्द्रमाधव का और तीसरे में गौरा का—।

'दृष्टिकोण' का निकष लेकर हिन्दी में उपन्यासों की आलोचना प्रायः नहीं हुई है, किन्तु 'दृष्टिकोण' के दृष्टिकोण से भी उपन्यास की समीक्षा फलप्रद होगी, इस विचार से इतनी लम्बी सैद्धान्तिक भूमिका प्रस्तुत की है।

(आ) शेखर : एक जीवनी में दृष्टिकोण :

'शेखर : एक जीवनी' में 'प्रथम पुरुष' दृष्टिकोण है। उपन्यास का 'मैं' प्रायः 'वह' (शेखर) हो जाता है, फिर भी उपन्यास का संघटन प्रथम पुरुष दृष्टिकोण से ही निर्मित है। 'शेखर : एक जीवनी' का 'मैं' 'वह' में क्यों परिणत होता है, उसका कारण देते हुए कथानायक 'मैं' कहता है :

'कैसे ! लिखूँ ?

अपनी कहानी में अपने व्यक्तित्व की पूरी इच्छाशक्ति डालकर सब्जेक्टिव दृष्टि से विवेचना करते हुए, एक दर्द और आग की भरी ललकार दूँ, या अपने को अपनेपन के बाहर खींच कर एक बाह्य आब्जेक्टिव दृष्टि से अपने कर्मों की ओर उनके प्रेरणा स्रोतों की परीक्षा लेते हुए, एक शांत अनासक्त, बौद्धिक संदेश सुनाऊँ, या

अपने जीवन को किसी नैसर्गिक शक्ति की दी हुई थाती समझकर एक ऋणी की भाँति, उसे लौटाते समय पूरा हिसाब चुकाते हुए, किसी भूलचूक के लिए सफाई देते हुए, एक ब्योरेवार क्षमाप्रार्थी बयान पेश करूँ ?

अपने व्यक्तित्व को 'मैं' समझूँ या 'वह' या 'तू' ?"[1]

कथानायक फिर कहता है कि वह एक कर्तव्य की भावना से आया है और एक दायित्व उसके पर है। इस रूप में वह अपने को 'तू' के स्थान पर रखकर न्यायकर्ता की तरह आलोचना कर सकता है, या 'मैं' के रूप में अपनेपन का स्मारक छोड़ जा सकता है, या अपने व्यक्तित्व की छाप बिठा सकता है, लेकिन फिर वह स्वयं इन दोनों रूपों में से किसी एक में अपनी बात लिखने से विरत होता है। वह समझता है कि उसके पास जो संदेश है, वह उसका अपना नहीं, उसने वंशविकास के रूप में पाया है और उसे वह बाह्य प्रेरणा से बाध्य होकर कहना चाहता है। वह लिखता है :

"अतः जिसकी कहानी में निहित संदेश को मैं प्रकट करूँगा, वह 'वह' ही है। उसका नाम है शेखर। वह इस समय मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है। उसी प्रतीक्षा में उसके जीवन के सत्यों को पढ़कर उनका निष्कर्ष निकालकर और शब्दबद्ध करके छोड़े जा रहा हूँ"।[2]

इस प्रकार 'शेखर : एक जीवनी' का आरम्भ 'प्रथम पुरुष' में है, लेकिन प्रथम पुरुष कथानायक ने ही अन्य पुरुष में कहने का मार्ग अपनाया है। अतः यहाँ 'मैं' और 'वह' (शेखर) में दृष्टिकोण की दृष्टि से तत्त्वतः भेद नहीं है। 'मैं' आब्जेक्टिव बनने के लिए 'वह' में परिणत होता है। स्वयं से जरा अलग हटकर 'स्व' का ही निरूपण है। इतना ही नहीं, वह 'वह' अर्थात् शेखर के बीच-बीच में 'मैं' के रूप में झाँक जाता है। एक तरह से पूरा 'शेखर : एक जीवनी' शेखर का, उसके नायक का आशैशव प्रत्यवलोकन ही है। उपन्यास का आरम्भ अंत से शुरू हुआ है। अर्थात् सब कुछ घटित हो चुका है। कथानायक को फाँसी की सजा हुई है, यह उसके अनथक 'विरामहीन जीवन का अंतिम विराम' है। उपन्यास का प्रथम शब्द ही 'फाँसी' है। फाँसी के बारे में कथानायक के प्रतिभाव से उपन्यास का आरम्भ है। हम सब कुछ उसके दृष्टिकोण से देख रहे हैं। फाँसी की बात करते-करते जीवन की सिद्धि की बात आते वह कह उठता है :

"सिद्धि कैसी ? काहे की ? मेरी मृत्यु की क्या सिद्धि होगी ? मेरे जीवन की क्या थी ?"[3]

फिर वह कहता है—

मैं अपने जीवन का पर्यावलोकन कर रहा हूँ; अपने अतीत जीवन को दुबारा जी रहा हूँ। मैं जो सदा आगे ही देखता रहा, अपनी जीवन यात्रा के अंतिम पड़ाव पर पहुँचकर पीछे देख रहा हूँ कि मैं कहाँ से चलकर किधर-किधर भूल-भटककर कैसे-कैसे विचित्र अनुभव प्राप्त करके यहाँ तक आया हूँ।"[4]

इस तरह 'पीछे देखने में' घटनाओं का पौर्वापर्य बदल सकता है। अतीत के चलचित्रों

1. 'शेखर : एक जीवनी-1', पृष्ठ-42
2. 'शेखर : एक जीवनी-1', पृष्ठ-42
3. 'शेखर : एक जीवनी-1', पृष्ठ-15
4. 'शेखर : एक जीवनी-1', पृष्ठ-52

के बीच साम्प्रत का निरीक्षण झाँक जाता है।

'वह'—'मैं' बन जाता है। वैसे पूरा प्रवेश खंड 'मैं' के दृष्टिकोण से है। प्रवेश खंड के अंत में 'मैं' निर्णय करता है कि वह 'वह' के रूप में अपनी बात प्रस्तुत करेगा और प्रथम खंड के आरम्भ में 'उसके' जन्म की बात आती है।

लेकिन यह 'उसके'—'मेरे' से किसी प्रकार भिन्न नहीं है। 'वह' के रूप में जितनी भी टिप्पणियाँ आती हैं, सब कथानायक की 'मैं' की है।

कथान्तराल में 'वह' कई बार 'मैं' हो जाता है। जहाँ-जहाँ 'वह' का 'मैं' में संक्रमण देखते हैं, वहाँ अतीत की घटनावलियों से यकायक साम्प्रत के बिन्दु पर हम अवस्थित होते हैं, जहाँ कथानायक कालकोठरी में बैठकर लिख रहा है। प्रथम खंड में पृष्ठ 52 पर शैशव की स्मृतियों की बात करते-करते तीसरी स्मृति के संदर्भ में, जो कि भद्दी है, वीभत्स है वह कह उठता है :

> "उसका ठीक-ठीक रूप, उसका मूल कारण मुझे याद नहीं है, याद केवल उस समय की मनःस्थिति, वह भावना, जिसे लिये मैं खड़ा हूँ...मैं—वह शिशु—कोई दृश्य देख रहा हूँ।"[1]

पृष्ठ 53 पर भी आत्मकथन आ जाता है। पृष्ठ 64 पर पुनः—

> "उसके बहुत दिन बाद की—बीस वर्ष बाद की—एक बात मुझे याद आती है, उन दिनों जब मैं भागा फिरता था आत्मरक्षा के लिए..."[2]

इसी प्रकार—

पृष्ठ 68 पर—'इसी तरह मैं जब विचार करता हूँ....'

पृष्ठ 72 पर—'मैं अपने आपको पाँच वर्ष के बालक के रूप में देख रहा हूँ....'

पृष्ठ 122 पर—'मैं अब भी कल्पना में देख सकता हूँ...'

(यहाँ पर 'मैं' के रूप में अपने जीवन के बारे में, जीवन की कहानी कहने के बारे में आत्मविमर्ष है, जो पृष्ठ 123 तक चलता है)

पृष्ठ 128 पर—'मैं घृणा के संसार से इतना कुचला गया हूँ कि प्यार मेरा अपरिचित हो गया है...'

पृष्ठ 129 पर—'लेकिन मुझे जीवन और प्रेम से क्या जिसका परिणाम मृत्यु की कठोर यथार्थता से होने वाला है ?...'

'शेखर : एक जीवनी' के दूसरे भाग में निम्न स्थानों पर 'वह' 'मैं' के रूप में आता है :

पृष्ठ 103 पर—'क्या बाबा मदनसिंह का स्वर है यह, जिसकी गूँज मेरे कानों में है ?...अतीत से मेरी दृढ़ता घटती नहीं, बढ़ती है, क्योंकि जितना ही 'मैं' उसे देखता हूँ, उतना ही मैं उसके भीतर की अनिवार्यता को पहचानता हूँ...पूरे एक पृष्ठ तक आत्मनिरीक्षण के बाद फिर दूसरे पृष्ठ पर 'वह' हो जाता है। साम्प्रत से फिर अतीत की उस घटना की स्मृति में चला जाता है।'

पृष्ठ 108 पर—एलियट की 'भोगनेवाले प्राणी और रचनेवाले कलाकार' के अंतर की

---

1. 'शेखर : एक जीवनी-1', पृष्ठ-52
2. 'शेखर : एक जीवनी-1', पृष्ठ-64

बात का उल्लेख कर 'मैं' कहता है : 'लेकिन क्या मैं कलाकार हूँ ? क्या मुझे कलाकार होने की परवाह है, जबकि मैं उस जीवन को जी सकता हूँ जो कि तुम्हारे संसर्ग से बना है...'

पृष्ठ 114 पर—'मैं क्या निश्चय करूँ...'

पृष्ठ 168 पर—'सप्तपर्णी मैं कुछ नहीं जानता...'

पृष्ठ 184 पर—'मैं सचमुच बहुत-सी बातें नहीं जानता...'

(यह चिंतन पृ० 185 पर भी चलता रहता है।)

पृष्ठ 205 पर—"किन्तु क्या मैं ऐसे ही आत्मकथा लिख रहा हूँ..."

पृष्ठ 225 पर—'मैं' एक तरह से 'हम' में परिणत है

पृष्ठ 245 पर—"पर क्या है कि जीवन के तीव्रतम दिनों की स्मृति में मैं बार-बार दुविधा में पड़ जाता हूँ..."

पृष्ठ 247 पर—"मैं शेखर की कहानी लिख रहा हूँ...क्योंकि मुझे उसमें से जीवन के अर्थ के सूत्र पाने हैं..."

पृष्ठ 252 पर—"शशि के विलोपन के बाद—किंतु इससे आगे कहानी नहीं है, अनुक्रम नहीं है, जीवन ने अर्थ खो दिया है, यथार्थता व्यवस्था गति, सब कुछ खो दिया है। निरा अस्तित्व—एक क्षण से दूसरे क्षण तक एक अणु पुंज का बने रहना—वह भी मिट गया है। मैं एक छाया हूँ, एक स्वप्न, एक निराकार आक्रोश, एक वियोग, एक रहस्य..."

प्रायः देखा गया है कि जहाँ-जहाँ किसी मार्मिक घटना के बारे में कुछ कहने का अवसर उपस्थित होता है, या जीवन के बारे में कुछ टिप्पणी करना है, तब 'वह' 'मैं' में परिणत हो गया है। ऐसे समय हम भी कथानायक की विगत की सृष्टि में से यकायक कालकोठरी के आगे अपने को पाते हैं।

मूल 'मैं' का 'वह' के रूप में, और बीच-बीच में इस प्रकार 'वह' का 'मैं' के रूप में प्रकट होना उपन्यास के नेरेशन को स्वाभाविकता प्रदान करना है।

एक ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि पूरा उपन्यास 'मैं' के रूप में प्रस्तुत करने में क्या आपत्ति थी ? एक तरह से यहाँ 'वह' 'मैं' का ही पर्याय है। लेकिन जैसे आरम्भ में ही हम पाते हैं कि शायद 'मैं' को 'वह' के रूप में देखने से एक 'आब्जेक्टिव' दृष्टिकोण आ सकता है—ऐसा कथानायक का कहना है।

लेकिन इसके अलावा दो अन्य बातों का भी अनुमान हो सकता है :

1. **टी० एस० इलियट का यह सूत्र**—'There is always a separation between the man who suffers and the artist who creates; and the greater the artist the greater the separation' जो अज्ञेय की भूमिका[1] में दिया है—सर्जक अज्ञेय को प्रभावित कर गया है। इस आदर्श को वह सर्जन का आदर्श मानने लगते हैं। 'मैं' की 'वह' में परिणति ही शायद इसी विचार से हो। इसका प्रमाण यह है कि लेखक अज्ञेय ही नहीं कथाकार शेखर भी एलियट की इस उक्ति का जिक्र करता है[2] 'भोगने वाले प्राणी में और रचना

1. 'शेखर : एक जीवनी-1' भूमिका, पृष्ठ-10
2. 'शेखर : एक जीवनी-1', पृष्ठ-108

करनेवाले कलाकार में सदा एक अलगाव बना रहता है। जितना ही बड़ा वह अलगाव है, उतना ही बड़ा कलाकार होगा।' यह जरूर है कि शेखर शशि के संदर्भ में इस प्रकार के अलगाव का कायल नहीं है।

2. 'मैं' को 'वह' के रूप में प्रस्तुत करने में शेखर ही अज्ञेय है—इस प्रकार की लगातार पाठक के मन में जगनेवाली प्रतिक्रिया को दूर किया जा सकता है, क्योंकि 'मैं' को आसानी से लेखक के साथ जोड़ दिया जाता है।

अंत में इतना जरूर कहना चाहिए कि 'मैं' को 'वह' के रूप में प्रस्तुत करने पर भी उपन्यास में दृष्टिकोण आत्मकथनात्मक ही बना रहता है, 'वह' तो एक प्रयुक्ति मात्र है। इस प्रयुक्ति से उसकी कलात्मकता में वृद्धि ही हुई है।

आधुनिक उपन्यासों में इस प्रकार के आत्मकथनात्मक दृष्टिकोण का प्राधान्य है। प्रेमचन्द के बाद, जैनेन्द्र ने 'त्यागपत्र' आदि में इस दृष्टिकोण का सफल प्रयोग किया है। 20वीं शताब्दी में उपन्यास की सामाजिकता का केन्द्र वैयक्तिकता में स्थिर होता है। व्यक्ति की संवेदना और बाहर के विश्व का संघर्ष इसीलिए बीसवीं शती के पश्चिम और पूर्व के उपन्यासों का प्रमुख विषय है। जब ऐसा विषय होता है तब व्यक्तित्व की भीतरी तहों तक पहुँचने के लिए आत्मकथनात्मक दृष्टिकोण अधिक उपयोगी सिद्ध होता है, अलबत्ता यह दृष्टिकोण होना चाहिए, एक संवेदनप्रवण, सहन करनेवाले नायक का।

शेखर एक ऐसा ही नायक है। उसकी चिन्ता मानवीय व्यक्तित्व की है और उसकी अपनी कहानी 'व्यक्तित्व' की सम्पूर्ति की कहानी है। शेखर की सारी खोज व्यक्तित्व की खोज है, और आत्मकथनात्मक शैली इसके लिए अधिक उपयुक्त है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस संबन्ध में लिखा है कि 'आत्मकथनात्मक शैली में लिखे जाने के कारण 'शेखर' में यह 'व्यक्तित्व की खोज' अधिक कुशल और प्रामाणिक ढंग से सम्पन्न हो सकी है।[1] इसके साथ यह भी जोड़ सकते हैं कि इस दृष्टिकोण से ही उपन्यास के संविधान की संश्लिष्टता और चारुता भी सिद्ध हुई है।

□□□

---

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी—'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या', पृष्ठ-77

रघुवंश

शेखर : एक जीवनी का रचनात्मक आयाम

साहित्य की रचनाशीलता के स्तर पर उसकी अभिव्यक्ति की विधाओं को व्यापक रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। उनमें काव्य, नाटक के साथ कथा के गद्य-रूपों को माना जाता है। आधुनिक साहित्य में आत्माभिव्यक्ति के स्तर पर संस्मरण, यात्रा और निबंध जैसे रूपों का प्रयोग-प्रचलन हुआ है। वस्तुतः उनमें कथा-तत्त्व का उपयोग होता है और उनके रचनात्मक आयाम में लेखक का व्यक्तित्व समाहित होता है। व्यक्ति के रूप में लेखक अपने निजी संदर्भों-सम्बन्धों-परिस्थितियों में रहने-जीने के क्रम के बीच इस प्रकार का लेखन करता है। इन गद्य के साहित्य रूपों में इस जीवन-प्रक्रिया के अनुभवों-संवेदनाओं-प्रभाओं को लेखक अभिव्यक्त करता है। परंतु काव्य तथा नाटक के साथ साहित्य की गद्य-विधा में कथा-विधान के अंतर्गत विविध-रूपों, स्तरों पर मानवीय जीवन को अभिव्यक्त करने वाले उपन्यास तथा कहानी जैसे रूप-विधान ही आते हैं। जहाँ तक समाज और व्यक्ति के नानाविध सम्बन्धों और उनके चरित्रों, उनमें अभिव्यक्त-व्यंजित अनुभूतियों-संवेदनाओं का प्रश्न है, उनकी अभिव्यक्ति काव्य एवं नाटक में भी होती है। वस्तुतः इन विधाओं का मूल अंतर सामाजिक स्तर पर मानव-जीवन के यथार्थ को ग्रहण करने की उनकी दृष्टि का और उसको अभिव्यक्त करने के रूप-विधान का होता है। काव्याभिव्यक्ति की मूलदृष्टि भाव-व्यंजना की होती है, यद्यपि उसमें जीवन के सभी रूपों-स्तरों, सम्बन्धों-संदर्भों का अंतर्भाव होता है, हो सकता है और उसकी इस स्तर की अभिव्यक्ति अपने अनुरूप भाषिक विधान से एवं छंदों, लयों, गतियों, विरामों आदि के प्रयोग से संभव होती है। नाटक अपने दृश्य-रूप में अभिनय के आधार पर कार्य-व्यापार की दृष्टि से संयोजित होता है, क्योंकि जीवन को समग्रता में अभिव्यक्त करने का उसका यही माध्यम है। इनकी सापेक्षता में उपन्यास और कहानी जैसी साहित्यिक विधा की दृष्टि संपूर्ण मानव-जीवन में व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों के आधार पर कथा-वस्तु के संयोजन की रहती है, जिसके माध्यम से सामाजिक सम्बन्धों एवं वैयक्तिक चरित्रों को अभिव्यक्ति मिलती है।

साहित्य के रचनात्मक स्तर पर लेखक-रचनाकार का व्यक्तित्व सर्वत्र अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में संवेदित-निहित रहता है। वह अपनी कल्पना के माध्यम से देश-काल-परिस्थिति के विविध आयामों में नानाविध पात्रों-चरित्रों की अवतारणा करता है। फिर विभिन्न सम्बन्धों और घटनाओं की उस स्तर की योजना के अंतर्गत उनके अनुभवों-भावों-संवेगों और उनकी अनुभूतियों-संवेदनाओं को चित्रित-व्यंजित करता है। वस्तुतः इस सारी प्रक्रिया में रचनाकार का अपना अनुभव अथवा अनुभव करने की उसकी क्षमता ही काम करती है, उस आधार पर ही

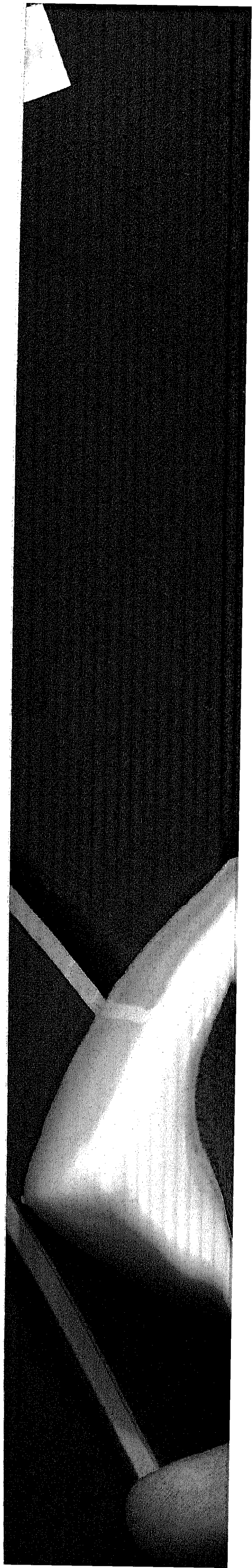

कल्पना करना संभव होता है। परंतु वह अपने निजी अनुभवों को व्यक्तिगत जीवन के स्तर पर कुछ विशिष्ट रचनात्मक विधाओं में अभिव्यक्त करता है। इधर जैसा कहा गया है, आत्मकथा, संस्मरण, निबंध जैसी कुछ विधाएँ विकसित हुई हैं, जिनमें लेखक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत रहता है, उसका व्यक्तित्व अभिव्यक्त होता है। पहले से इस स्तर का यात्रा साहित्य अवश्य प्रचलित रहा है, पर उसमें रचनात्मक आयाम का लेखन अधिक संभव नहीं रहा है। काव्य के अंतर्गत प्रगीतिपरक अभिव्यक्ति स्वच्छंद भावबोध की आत्मपरक अवश्य मानी गयी है, पर अनुभव के स्तर पर कवि के व्यक्तित्व और निजी जीवन पर आधारित होकर भी उसके सामाजिक जीवन के इतिवृत्त से उसका सम्बन्धित होना अपेक्षित नहीं है। गद्य के साहित्य-रूपों में निबंध को इस स्तर की रचना स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि इसकी स्वच्छंद भावबोध के स्तर की अभिव्यक्ति में निबंधकार के व्यक्तित्व के अनेक संदर्भों को पाया जाता है, पर उसमें काल्पनिक स्थितियों-भावस्थितियों का प्रयोग भी होता है। आत्मकथा एवं संस्मरण ऐसी विधाएँ अवश्य हैं जिनमें लेखक अपने व्यक्तित्व को विविध रूपों-स्तरों-सन्दर्भों में अभिव्यक्त करने की प्रतिश्रुति के साथ रचना-कर्म में प्रवृत्त होता है। वस्तुतः इस प्रकार के व्यक्तित्व के माध्यम से रचनात्मक अभिव्यक्ति से एक स्तर पर समान लगनेवाला ऐसा कथा-रूप उन कहानियों तथा उपन्यासों का है, जिनमें संपूर्ण कथावस्तु का रचनाविधान एक पात्र के माध्यम से किया गया है। पर इसमें उपन्यासकार अपने व्यक्तित्व को रचना, विधान का माध्यम न बनाकर पात्र-विशेष के साथ भाव-तादात्म्य स्थापित कर उसके व्यक्तित्व के विविध आयामों के स्तर पर कथा-वस्तु का संयोजन रचनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में करता है। रचनात्मक स्तर पर अन्य उपन्यासकारों के समान प्रथम पुरुष के आत्मकथन की शैली में रचना करनेवाला उपन्यासकार अपने अनुभव-क्षेत्र का उपयोग वस्तु की योजना और व्यक्तित्व के रूप में चरित्र-निर्माण में करता है। इस रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण-विवेचन में यह निरंतर स्मरण रखने की बात है, क्योंकि लेखक उपन्यास के व्यक्तित्व एवं जीवन के स्तर पर और उसकी अभिव्यक्ति के रूप में इस प्रकार का अध्ययन विरोधाभासी एवं असंगत होगा, गलत निष्पत्तियों तक पहुँचा सकता है। उसके जीवन एवं अनुभव-क्षेत्र का उपयोग एक सीमा के अंदर कथावस्तु के संयोजन की दृष्टि और पात्रों के चरित्रों की योजना में माध्यम के रूप में प्रस्तुत देखा-माना जा सकता है।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' कवि-कथाकार के रूप में रचनाकार हैं, साथ ही चिन्तक भी। हम जानते हैं, हर लेखक रचनाकार-चिन्तक नहीं होता, वह अनुभव तथा कल्पना के स्तर पर अपने रचना-कर्म में प्रवृत्त होता है, संलग्न रहता है। चिन्तन के स्तर पर अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' की भूमिका में अपनी इस कृति की रचना-दृष्टि प्रस्तुत की है और उसमें इसी रूप में प्रस्तुत उपन्यास की रचना-दृष्टि को व्यक्त किया है, जिसमें आत्मपरक अपने प्रस्तुत उपन्यास की अभिव्यक्ति के रूपविधान और वर्णन-शैली पर प्रकाश डाला है। प्रस्तावना के साथ अपने इस कथन में उनकी इस मूल रचना-दृष्टि की व्यंजना है—"वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना में है वह दृष्टा हो सकता है", यहाँ कवि पंत की रचनात्मक संवेदना को अभिव्यक्त करनेवाली कविता की पंक्ति का स्मरण आ जाना स्वाभाविक है, जिसमें वह 'घनीभूत वेदना' को अपने काव्य का रचनास्रोत कहते हैं और अज्ञेय ने इस दृष्टि को स्वीकार किया है, "घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए 'विज़न' को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है।" आगे वह इस स्तर पर अपनी रचना-प्रकिया और उसमें विकसित होनेवाली रचना की कथावस्तु की दृष्टि पर भी प्रकाश डालते हैं— "इस जिज्ञासा की अनासक्त निर्ममता के और यातना की सर्वभेदी दृष्टि के आगे मेरा

जीवन धीरे-धीरे खुलने लगा, एक निजी और अप्रासंगिक विसंगति के रूप में नहीं, एक घटना के रूप में, एक सामाजिक तथ्य के रूप में; और धीरे-धीरे कार्य-कारण परंपरा के सूत्र सुलझ-सुलझ कर हाथ आने लगे...।" इस प्रकार लेखक अपनी आंतरिक रचना की भाव-भूमि के साथ व्यक्तिगत जीवन के संदर्भों से स्वतंत्र स्तर पर, रूप में अपने उपन्यास की कथावस्तु के संयोजन एवं रचना-क्रम का उल्लेख ही कर रहा है। साहित्य की रचना-प्रकिया पर विचार करनेवाले आचार्यों-चिंतकों ने प्रतिपादित किया है कि परिस्थिति-पात्र-चरित्र और इस स्तर के जीवन-क्रम में मूल्यों की भावभूमि पर सामाजिक-पाठक रचनात्मक अभिव्यक्ति का आस्वादन तटस्थ स्तर पर उनकी अभिव्यक्ति से रस;सौन्दर्य और आनन्द रूप में करता है। उपन्यास की कथावस्तु के इस रूप एवं स्तर के बारे में भी आगे भूमिका में कहा गया है कि "कल्पना और अनुभूति-सामर्थ्य के सहारे दूसरे के घटित में प्रवेश कर सकना और वैसा करते समय आत्मघटित की पूर्व-धारणाओं और संस्कारों को स्थगित कर सकना—वस्तुपरक (Objective) का सकना—ही लेखक की शक्ति का प्रमाण है।" इलियट के कथन के आधार पर उन्होंने अपनी इस स्थापना का समर्थन भी लिया है—"भोगनेवाले प्राणी और सृजन करनेवाले कलाकार में सदैव एक अन्तर रहता है, और जितना बड़ा कलाकार होता है उतना अधिक यह अन्तर भी होता है।" इस स्तर पर रचनाकार को अपनी आत्मकथन शैली में अपने अनुभव की भावभूमि का उपयोग करने की प्रक्रिया में भी अपनी वस्तु के पात्रों-चरित्रों, उनकी अनुभूतियों—संवेदना से तटस्थ रह कर अभिव्यक्ति करना अपेक्षित है।

अज्ञेय ने संवेदनशील चिंतक के रूप में अपने उपन्यास की रचना-प्रक्रिया प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, साथ ही विवेकशील रचनाकार के रूप में अपनी सीमाओं को जाना-पहचाना है। उनके कथन में यह लक्षित किया जा सकता है—"इतना और ऐसा निजी वह नहीं है कि उसके दावे को आप 'एक आदमी की निजी बात' कह कर उड़ा सकें; मेरा आग्रह है कि उसमें मेरा समाज और मेरा युग बोलता है कि वह मेरे और शेखर के युग का प्रतीक है; लेकिन इतना सब होते हुए भी मैं जानता हूँ कि ... कि शेखर में घटनाओं की बात ही क्या, स्थान भी लेखक के देशाटन की परिचर्या से मेल खाते हैं।" यहाँ वह समझते हैं, स्वीकार करते हैं कि रचना के स्तर पर घटना-पात्र-परिस्थितियों का संयोजन-विधान उसके विशिष्ट स्तर पर, रूप में होना ही अपेक्षित है। लेखक के जीवन की घटनाओं, व्यवहारों के सम्बन्धों, परिस्थितियों के अनुभवों को व्यक्त करने, प्रस्तुत करने में रचनात्मक आयाम की अभिव्यक्ति नहीं संभव है। वस्तुतः अज्ञेय ने जिस परिस्थिति की मानसिक स्थिति में इस रचना की मूल परिकल्पना को आंतरिक संवेदना के स्तर पर ग्रहण किया है और कथावस्तु के रूप में उसकी व्यापक उद्‌भावना की है, वह उनके पात्रों के चरित्र में, आचरण से अधिक उनके मानसिक द्वन्द्वों में निरंतर अंतर्निहित रही है, साथ ही उसको उनकी अभिव्यक्ति में लक्षित भी करना संभव है। लेखक ने उपन्यास की रचना के बारे में 'भूमिका' में ही कहा है कि उसकी मूल 'वस्तु' का साक्षात्कार उसने 'विज़न' के रूप में आन्तरिक वेदना के मंथन के क्षणों में किया है और उसकी भाषिक अभिव्यक्ति 'रूप' में प्रस्तुत रचना को माना है। इस जानकारी के स्तर पर रचना का पाठक उसके पूरे विधान में लेखक के व्यक्तित्व को उसके विविध सम्बन्धों के स्तर पर समझने-स्वीकारने के स्तर पर प्रेरित हो सकता है। जिस वेदना को रचना-दृष्टि कहा गया है और जिस यातना की छाया में उसके सारे वस्तु-विधान को माना गया है, उससे यह भ्रम होना संभव है। परंतु, उपन्यास की कथावस्तु 'निस्संदेह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज़ होकर भी भारतीय राष्ट्रीय नवजागरण के युग में ब्रिटिश शासन-सत्ता के विरुद्ध स्वाधीनता के लिए संघर्ष करनेवाले युग का प्रतिबिम्ब

भी है।

'शेखर : एक जीवनी' की रचना-प्रकिया और उसकी वस्तु-योजना के आयाम को व्याख्यायित करने के क्रम में लेखक के अपनी दृष्टि (vision-दर्शन) के कतिपय सूत्रों का उल्लेख करना यहाँ अपेक्षित होगा, क्योंकि उसके साक्ष्य से प्रक्रिया को समझने में सहारा मिलता है। पूरे उपन्यास के रचना-विधान में शेखर के व्यक्तित्व को जिन घटनाओं, परिस्थितियों, चरित्रों के बीच और संपर्क-सम्बन्धों के आधार पर विकसित किया गया है, भावात्मक प्रतिक्रियाओं के स्तर पर अभिव्यक्ति मिली है, वस्तुतः उनका संयोजन, रचनात्मक प्रयोग, कथा के नायक शेखर के जीवन को दीप्त करने की दृष्टि से है अथवा उनमें निहित यातना की तीव्रता से व्यक्तित्व सूक्ष्म संवेदनाओं से अनुप्राणित हुआ है। इस स्तर पर लेखक के कथन से स्पष्ट हुआ है कि शेखर की दृष्टि उसके जीवन-दर्शन को एक सीमा तक निरूपित करने के साथ जीवन-क्रम में अपने स्तर पर मार्ग का अनुसरण करती है। अज्ञेय का कथन है—"शेखर का और अपना सम्बन्ध ध्यान में रखते हुए मुझे लगता है कि इसी में उसके जीवन की महानता है और इसी में उसकी दीनता है। महानता इसलिए कि उसकी जिज्ञासा में लगन है, निष्ठा है; दीनता इसलिए कि तीव्रता के कारण ही वह कई जगह सच्चा शोधक न रहकर केवल हेतुवादी रह जाता है और उसका हेतुवाद करुण और दयनीय लगता है।"

अज्ञेय ने प्रस्तुत उपन्यास की रचना पर विचार करने के क्रम में एक महत्त्वपूर्ण बात और कही है, जो उसके आयाम को व्याख्यायित करने में सहायक होगी। साहित्य की रचना-प्रक्रिया वस्तुतः कवि-लेखक-रचनाकार की कल्पना के स्तर पर ही अभिव्यक्ति के क्रम में अनेक रूप ग्रहण करती है। रूप-ग्रहण के इस वस्तु-विधान में विभिन्न संवेदनाओं-भावनाओं-संवेगों-परिकल्पनाओं-चिन्तनाओं के स्तर पर पात्रों-चरित्रों का संयोजन होता है। फिर इसी क्रम के अनुसार सामाजिक जीवन और नानाविध सम्बन्धों की सृष्टि होती रहती है। इस स्तर पर रचना में जीवन की सृष्टि करने के लिए लेखक-साहित्यकार की जिस कल्पना को स्वीकार किया गया है, वह वस्तुतः रचना-क्रम की आंतरिक क्षमता है और रचनाकार की प्रतिभा विशेष स्वीकार की गयी है। अज्ञेय ने इसी बात की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है कि "कल्पना और अनुभूति-सामर्थ्य (Sensibility)के सहारे दूसरे के घटित में प्रवेश कर सकना और वैसा करते समय आत्म-घटित की पूर्वधारणाओं और संस्कारों को स्थगित कर सकना—Objective (वस्तुपरक) हो सकना—ही लेखक की शक्ति का प्रमाण है।" लेखक ने अपने उपन्यास के सूत्रों को जिस मानसिक भाव-भूमि पर ग्रहण किया है, वह असाधारण 'फाँसी' की संभावना है। क्रांतिकारी के रूप में शेखर देश के लिए बलिदान की भावना से प्रेरित होकर उसको काव्यमयी भाषा में एक सम्मोहन, एक निमंत्रण के रूप में ग्रहण करता है। और इस भाषिक अभिव्यक्ति में अपने क्रांतिकारी मनोभाव को व्यंजित करता है, जो प्रतिहिंसा के इस यंत्र को भी कवितामय बना देता है, जो कि उस पर बलिदान होते हुए अभागे—या अतिशय भाग्यशाली !—को जीवन की एक सिद्धि दे देता है, और उसके असमय अवसान को भी संपूर्ण कर देता है_?"

प्रस्तुत उपन्यास की रचना में लेखक के रूप में अज्ञेय को एक स्तर पर मानसिक द्वन्द्व के माध्यम से गुज़रना पड़ा है। उनकी भूमिका में इसका संकेत भी ग्रहण किया जा सकता है। इलियट के कथन को उद्धृत करते हुए उसको स्वीकार भी किया है "भोगनेवाले प्राणी और सृजन करने वाले कलाकार में सदैव एक अंतर होता है और जितना बड़ा कलाकार होता है उतना ही अधिक यह अंतर होता है।" इस दृष्टि के स्तर पर विचार करने पर सहज ही देखा जा सकता है

कि अज्ञेय ने प्रस्तुत उपन्यास की मूल-संवेदना और उसके रचना-विधान के संयोजन एवं उसकी अभिव्यक्ति में इस अंतर को बनाये रखने में कहाँ तक सफलता प्राप्त की है। यहाँ पुनः लेखक के स्वयं के स्वीकार को साक्ष्य रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उन्होंने कहा है कि 'मेरी अनुभूति और मेरी वेदना शेखर को अभिसिंचित करती है', साथ ही यह भी माना है कि "यह अभिसिंचन ऐसा है कि उसमें यह कह कर छुटकारा नहीं पाया जा सकता है कि अन्ततोगत्वा सभी गल्प-साहित्य आत्मकथामूलक होता है, अपने ही जीवन का चित्रण नहीं तो प्रक्षेपण है, अपने स्यात की कहानी है।" इस स्तर पर उनकी यह स्वीकृति भी ध्यान देने की है;—"शेखर में मेरापन कुछ अधिक है; इलियट का आदर्श (जिसकी महानता मैं मानता हूँ) मुझसे नहीं निभ सका है।" यहाँ हम देखते हैं कि लेखक के मन में अपनी रचना को लेकर द्वन्द्व है। भूमिका इस बात का प्रमाण है और उसने माना भी है;—"यदि इस उपन्यास का सूत्रपात दूसरी परिस्थिति में होता, दूसरे ढंग से हुआ होता तो इस भूमिका की आवश्यकता न होती।" वस्तुतः उपन्यास के रचना-विधान में लेखक ने जिस प्रकार और रूप में अपने जीवन की घटनाओं-परिस्थितियों-पात्रों का उपयोग किया है, उस कारण वह स्वयं ही अपनी रचना की पूरी परिस्थिति और उसके पात्रों से तटस्थता के स्तर पर अपने अंतर का अनुभव नहीं कर पाता। लेखक-रचनाकार जब सामाजिक-पाठक के रूप में अपने सर्जन की अभिव्यक्ति को ग्रहण नहीं करता, उसका अनुभावन-आस्वादन तटस्थ भावभूमि पर नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में उसका अनुभव करना, ऐसा सोचना सहज हो जाता है। परंतु पाठक 'शेखर : एक जीवनी' के प्रमुख पात्र 'शेखर' को केन्द्रीय पात्र के रूप में ग्रहण करता है। वह कथावस्तु के केंद्र में रह कर भी उसका माध्यम नहीं है। निश्चय ही उसकी अभिव्यक्ति में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। और लेखक ने कथावस्तु के वक्ता की भूमिका पर उसको अपनी रचना का माध्यम नहीं बनाया है, अतः इस स्तर पर रचनाकार की तटस्थ भूमिका पर कथा का विकास स्वीकार किया जा सकता है। यह अवश्य है, पाठक के मन में लेखक का स्वीकर ही उसे रचनाकार से तटस्थ होने में बाधक हो। बावजूद इसके कि लेखक सतर्क करता है—"अतः उसकी कहानी में निहित संदेश को मैं प्रकट करता हूँ। वह 'वह' ही है। उसका नाम शेखर है...और वह मृत्यु की प्रतीक्षा में अपनापन व्यक्त किये जा रहा है; और अपने जीवन के सत्यों को पढ़कर, उसका निष्कर्ष निकाल कर और शब्दबद्ध करके छोड़े जा रहा हूँ।" पर साथ ही लेखक उसके साथ अपना आत्म-प्रक्षेप यहाँ स्वीकार कर रहा है— "जा रहा हूँ। कहाँ ? जहाँ वह जा रहा है—जहाँ हम दोनों अपरिचित हैं। क्योंकि हम अभिन्न हैं, अत्यंत एक हैं और हमारा एकत्त्व मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है....।"

लेखक रचनाकार के रूप में अपने उपन्यास की वस्तु-योजना करता है, घटनाओं-परिस्थितियों का संयोजन करता है, चरित्रों को अभिव्यक्त करता है और उनकी भावनाओं-संवेदनाओं की व्यंजनाओं में कथावस्तु के युगपरिवेश के अंतर्गत और उनके नानाविध संदर्भों में जीवनगत मूल्य-प्रक्रियाओं को निहित करता है। इसका अर्थ है कि लेखक अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति के स्तर पर ही अपने पाठक-वर्ग से सम्बन्ध स्थापित करता है और उसका लक्ष्य अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति की भाव-भूमि पर उसको संवेदित करना होता है। प्रश्न उठता है, फिर अज्ञेय को अपने उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' की भूमिका लिखने की अपेक्षा क्यों हुई ? एक स्पष्ट और साधारण कारण तो वही है, जिसका उल्लेख भी लेखक ने यहाँ किया है। अज्ञेय ने अपने क्रांतिकारी जीवन की परिस्थिति विशेष, उसकी अपनी मानसिक संवेदना-भावना विशेष की आंतरिक प्रेरणा के क्षणों में इस रचना की मूल दृष्टि और उसके सूक्ष्म

रूप की उद्‌भावना-परिकल्पना की है। और इस कारण सामान्यतः इस रचना को उनकी आत्मकथारूप होने का भ्रम हो सकता है। जबकि उनके अनुसार ही परिस्थितियों, घटनाओं, वातावरण आदि के स्तर पर उनके जीवन से अनेक स्तरों पर अनेक रूपों में साम्य होने पर भी उपन्यास कल्पना के स्तर पर स्वतंत्र रचना-विधान है। कल्पना मानवीय सृजन का मौलिक आयाम है। प्रकृति का सारा व्यापार सर्जनात्मक होता है। संपूर्ण प्रकृति का परिवेश, रंग-रूप, आकार-प्रकार, नाद-ध्वनि के जिन नानाविध प्रतिरूपों में मानव ग्रहण करता है उनमें उसकी मौलिक रचना-दृष्टि सौन्दर्य ग्रहण करती है। इसी प्रकार अनेक पशु-पक्षियों, जीव-जन्तुओं के जीवन-यापन एवं स्वरक्षा के कार्यों-व्यापारों में संतुलन-सामंजस्य, लय-ताल, गति-छन्द का सौन्दर्य-बोध करता है। परंतु प्रकृति का यह सारा क्रम, प्रवाह, नियोजन प्रयोजन के स्तर पर गतिशील रहता है। इस जीवन के सारे परिवेश में मानव भी इन सबका उपयोग एवं अनुभव प्रयोजन के रूप में एवं स्तर पर ही करता रहा है, करता है। प्रकृति में, उसके सारे क्रम और प्रवाह में सौन्दर्य-बोध का स्तर भिन्न है और इस स्तर का अनुभव स्वचेता मानव के लिए ही संभव है। रूप-रंग, आकार-प्रकार, गति-ताल, लय-छंद, ध्वनि-शब्द के स्तर पर सौन्दर्य-बोध की यह क्षमता स्वचेतन मनुष्य ने कल्पना के माध्यम से विकसित की है। कहा जा सकता है, वह प्रत्यक्ष अनुभव के स्तर पर प्रकृति-सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है, दूसरे व्यक्ति के सौन्दर्य से आकर्षित-प्रभावित होता है। प्रकृति में, इसी प्रकार व्यक्ति में मन को आकर्षित करने के कुछ तत्त्व हो सकते हैं, होते हैं और उसके भिन्न-भिन्न कारण भी होते हैं। परंतु जिसे हम सौन्दर्य मानते-स्वीकारते हैं जो सौन्दर्य रूप अथवा उसकी अभिव्यक्ति के स्तर पर व्यंजित कहा-माना गया है उसको मानवीय कल्पना-विधान रूप ही माना जायेगा।

प्रस्तुत उपन्यास कथावस्तु, मुख्यतः घटनाक्रम के संयोजन में चरित्रों के विकास के आधार पर अग्रसर हुई है। उसके मूल सूत्रों का उपयोग कथानक को मनोरंजक अथवा आकर्षक बनाने के लिए न किया जा कर पात्रों की स्थितियों, उनकी प्रतिक्रियाओं और उनमें अभिव्यक्त एवं व्यंजित होनेवाली मनःस्थितियों की अभिव्यक्ति के स्तर पर और पात्रों के चरित्र के विविध पक्षों को चित्रित करने के लिए हुआ है। साथ ही जैसा कहा गया है, किसी-न-किसी स्तर पर अथवा रूप में शेखर के केन्द्रीय व्यक्तित्व को इन पात्रों की मानसिकता में इस भावबोध से प्रतिक्रियाशील भी देखा जा सकता है। यही कारण है, उपन्यास अपने विस्तार में कुछ गिने हुए पात्रों को ही पूरे विधान के स्तर पर विकसित करता है। उनमें भी स्त्री-पात्र ही अधिक हैं। पुरुषों में मुख्यतः पिता का चित्र ही अधिक स्पष्ट है और उनके चरित्र के कुछ पक्ष सामने आए हैं, जो शेखर को प्रेरित-प्रभावित एक सीमा तक करते लक्षित किए जा सकते हैं। उनका क्रोध में व्यंजित होनेवाला निर्दय भाव आकाश के छुटपुट बादल जैसा कहा जा सकता है जो अकस्मात् बरस कर अदृश्य हो जाता है। उसके बाद पिता सहज होकर आत्मीय भाव व्यक्त करने लगते हैं। अन्य पुरुषों का उपयोग कथावस्तु में सीमित रूप में हुआ है। प्रयोजन के बाद वह रंगमंच पर कुछ भी प्रभावी 'रोल' (भूमिका) में सामने नहीं आए हैं। मद्रास के हॉस्टल के साथियों की यही स्थिति है। उनका रचनात्मक उपयोग कथानक के क्रम को रूप देने और कथाक्रम को अग्रसर करने मात्र का माना जा सकता है। अन्य साहित्य की रचनात्मक विधाओं की अपेक्षा उपन्यास युग-जीवन और सामाजिक परिवेश के यथार्थ को व्यापक रूप में प्रस्तुत करता है, और इस प्रकार अपने चरित्रों का चित्रण एवं विकास सम्यक् रूप से करने में समर्थ होता है। मानसिक प्रतिक्रियाओं, द्वन्द्वों, संघर्षों को चित्रित करने का अवसर पाता है। परंतु सामान्यतः समाज और

व्यक्ति को अपनी रचना-दृष्टि में प्रमुखता से रखनेवाले उपन्यासकारों के रचना-विधान में इस दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण अंतर रहता है। हिन्दी उपन्यासकारों में प्रेमचन्द और अज्ञेय जैसे प्रमुख उपन्यासकारों में रचनात्मक विधान के इस अन्तर को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। मद्रास में शेखर के हॉस्टल-जीवन और उसके साथियों का उपयोग इसी स्तर का है। इसके अन्तर्गत आनेवाले कुमार, सदाशिव, राघवन आदि किसी साथी का व्यक्तित्व नहीं बनता, उभरता, केवल शेखर के साथ उनके व्यवहार एवं उसकी प्रतिक्रियाओं के स्तर पर शेखर का प्रौढ़ होता, क्षुब्ध एवं एकाकी होता व्यक्तित्व ही उभरता है। उपन्यास की कथावस्तु के रचनात्मक विकास में उनका और उस परिस्थिति का संदर्भ छूट जाता है। इसके विपरीत युग और समाज के स्तर पर रचना प्रक्रिया में विकास-क्रम के साथ इस प्रकार के सारे वर्णनों-संदर्भों का उपयोग होता रहता है। वस्तुतः इस प्रकार का वर्णन-क्रम अपने आकर्षण में कथा के मनोरंजन पक्ष को बनाये रखता है। जबकि व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व के विविध पक्षों-स्तरों की सघन-मार्मिक अभिव्यक्ति के रूप में उपन्यास का रचना-विधान संवेदनाओं के स्तर पर प्रभावी होता है और उसके आस्वाद के सौन्दर्य-बोध का स्तर भी वही होता है।

उपन्यासकार ने देश की जिस परिस्थिति और परिवेश के वातावरण का निर्माण शेखर के व्यक्तित्व की भूमिका के रूप में किया है, वह विदेशी अंग्रेज़ी सत्ता के विरुद्ध राष्ट्रीय नवजागरण का युग है। गांधी का अहिंसक आन्दोलन क्रमशः देशव्यापी हो रहा था। राजसत्ता के दमन के साथ जन-समाज में उसका प्रभाव बढ़ रहा था। युवा-पीढ़ी के साथ और शेखर के मन में भी उसका आकर्षण रहा है। परंतु युवा-वर्ग के मन में पहले से अपने समाज की, अपनी परंपराओं की जड़ताओं-रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का भाव विकसित हो रहा था। आधुनिक युग के हमारे नेताओं ने इस दिशा में उनको प्रभावित एवं प्रेरित किया था। इस मनोभूमि पर विदेशी-शासन उनके लिए बड़ी चुनौती था। और उनमें विद्रोह की भावना गांधी की अहिंसक क्रांति की परिकल्पना तक सीमित नहीं रह सकी। यह क्रांतिकारी युवक-वर्ग सशस्त्र विद्रोह के आधार पर आतताई विदेशी शासकों पर प्रहार भी करता है, यह जानते हुए कि यह प्रतीक रूप ही हो सकता है। शेखर इस अभियोग में बंदी होकर लाया जाता है। वस्तुतः वह इसी स्थिति में बंदीघर की कोठरी में भयावह रात अभियोग में मृत्युदंड की भावभूमि पर अपने अतीत की कल्पना के क्रम के स्तर पर अपनी आत्मकथा में जीता है। यही कारण है कि इस जीवनी की वस्तु-योजना इस मानसिक भावबोध के वातावरण में निरंतर अग्रसर हुई है। आरोपित अभियोग की संभावना में निहित मृत्युबोध मानसिक यातना का छायारूप पूरे वस्तु-विन्यास के एक स्तर विशेष पर प्रतिबिम्बित-व्यंजित होता रहता है और इस प्रकार वस्तु-विन्यास का आयाम निर्मित करता है। और उसकी सघन व्यंजना को घटनाओं के क्रम में एवं पात्रों के चरित्र के स्तर पर निरंतर प्रभावित करता है। इस प्रक्रिया में बचपन में शुरू होनेवाली साधारण घटनाएँ, सामान्य स्थितियाँ अपने आप महत्त्वपूर्ण न होकर शेखर के प्रस्तुत जीवन-मृत्यु के द्वन्द्व की साक्षी होकर उसके अनायास नष्ट होते जीवन को विशेष अर्थ देने का उपक्रम करती हैं।

यहाँ इस विशेष प्रयोग के रूप में कथानायक शेखर अपने जीवन के कथाविन्यास में अपने आप का उल्लेख प्रथम पुरुष 'मैं' के स्तर पर करने के साथ मुख्य रूप से अपना अन्य पुरुष के रूप में वर्णन करता है। रचना के स्तर पर इस प्रयोग से कथावस्तु के विधान को जन्म के वातावरण से शुरू करके शिशु जीवन और उसके बालक्रीड़ाओं के माध्यम से विकसित किया गया है। अतीत की स्मृतियों को संयोजित करना और बालमनोविज्ञान की भावभूमि पर

कथावस्तु के आयाम को ग्रहण करना भी संभव हो सका है। उपन्यास अपने 'प्रवेश' के साथ प्रमुख पात्र 'शेखर' की विशेष मानसिक भावभूमि से शुरू होता है, जिससे 'फाँसी' के केन्द्र से 'मैं' के स्तर पर प्रतिक्रियाओं का प्रारंभ होता है। वह "मैं अपने जीवन का प्रत्यालोचन कर रहा है, अपने अतीत जीवन को दुबारा जी रहा है।" शेखर के व्यक्तित्व की चिन्तनपरक प्रवृत्ति की झलक प्रारंभ से फाँसी की संभावना के उसके मानसिक ऊहापोह में मिलने लगती है। दार्शनिक स्तर के इस चिन्तन में यह द्वन्द्व भाव के रूप में संवेदनीय है—"जिस जीवन को उत्पन्न करने में हमारे संसार की सारी शक्तियाँ, हमारे विकास, हमारे विज्ञान, हमारी सभ्यता द्वारा निर्मित सारी क्षमताएँ या औजार असमर्थ हैं, उसी जीवन को छीन लेने में, उसी का विनाश करने में, ऐसी भोली हृदयहीनता—फाँसी !" उसके मन की इन विशेष क्षणों की भाव-प्रक्रिया में काव्याभिव्यक्ति के रचना-विधान में जिस रूप में प्रस्तुत हुई है, वह उसके व्यक्तित्व के स्तर पर उपन्यास के रचना-विधान की समुचित भूमिका का निर्माण भी कर रही है। 'फाँसी' की कल्पना में निहित जीवन के अंत के दृश्य के साथ इस रचना के स्तर पर प्राकृतिक सर्जन-विनाश के दृश्य-रूपों के बीच वह सृष्टि की रचनात्मक उपलब्धि को स्वीकार करता है, "इस विरोध में, इस अचानक खंडन में निहित अपूर्व भैरव कविता (राग) ही में इसकी सिद्धि है।" लेखक के सामने जीवन (अपना जीवन) नाटक के समान है, जिसमें यवनिका का उठना-गिरना, दृश्यों का आना-बदलना क्रमशः चल रहा है, और उनका आक्षेप-अवसान अपने में लीन होकर नाटक की वस्तु को अग्रसर-विकसित कर रहा है। और इसी प्रकार जीवन का प्रवाह और क्रम अस्तित्ववान् है, गतिशील है। फिर अपने जीवन के इस विशेष समापन में अपनी सिद्धि, सफलता और संपूर्णता को ग्रहण करने, प्राप्त करने की दृष्टि से अपने समग्र अतीत में वह जीने के क्रम से गुज़र रहा है। यहाँ इस स्वीकार के साथ भी अपने को प्रस्तुत कर रहा है—"अपनी जीवनयात्रा के अन्तिम पड़ाव पर पहुँच कर पीछे देख रहा हूँ कि मैं कहाँ से चल कर किधर-किधर भूल-भटककर, कैसे-कैसे विचित्र अनुभव प्राप्त करके यहाँ तक आया हूँ।" अपने जीवन की कथा में प्रमुख पात्र के रूप में शेखर ही यह मानकर उसे प्रस्तुत करने में लगा है कि वह अपनी भटकन की प्रेरणा में निहित विजय अंकुर के रस-वैशिष्ट्य रूप रस-आनंदानुभव से अनुप्राणित है।

हमारे साहित्य में राष्ट्रीय नव जागरण के युग-जीवन के आधार पर कतिपय उपन्यास लिखे गए हैं, जिनमें देश की स्वाधीनता के लिए ब्रिटिश-सत्ता से संघर्ष कई रूपों एवं स्तरों पर चलता दिखाया गया है। गांधी के नेतृत्व में अहिंसक सत्याग्रह आन्दोलन सबसे अधिक व्यापक रहा है, और कांग्रेस ने इसके माध्यम से भारतीय जनता को प्रेरित करके आंदोलन को गतिशील भी किया। प्रस्तुत उपन्यास में भी उसका संदर्भ है और उपयोग किया गया है। परंतु, इस संघर्ष में, क्रांतिकारियों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। शेखर क्रांतिकारी के रूप में उपन्यास का नायक है, वस्तुतः उसके व्यक्तित्व का केन्द्रीय भाव विद्रोह है, वह शैशव काल से ही उससे प्रेरित होकर परिवार-समाज की रूढ़ियों और जड़ परंपराओं के विद्रोह की भावना से आन्दोलित है। और इसी मनोभाव में देश की विदेशी पराधीनता को ग्रहण कर ब्रिटिश साम्राज्य की सत्ता को चुनौती देता है। स्मृति क्रम के प्रारंभ में ही अपने व्यक्तित्व पर शशि के प्रभाव के रूप में शेखर अपनी विद्रोही तथा भावशील प्रकृति का उल्लेख व्यंजक भाषा में करता है—"शशि के व्यक्तित्व की यह पुकार, यह अपील थी मेरे मन के एक खंड के लिए जो कि जीवन में क्रियाशीलता के उफान से छलक पड़ता है, जो विद्रोही है। किन्तु मन का दूसरा खंड, जो कि सृष्टि के सौन्दर्य को ही प्रतिबिम्बित कर सकता है, जो वास्तव में मेरे मस्तिष्क का हृदय है, और इसलिए कवि है, वह

जागता था शशि की हँसी से....!" वस्तुतः प्रस्तुत उपन्यास का सारा रचना-विधान कथानायक के चरित्र के इन दो पक्षों के आधार पर हुआ है। बचपन में माँ के शंकालु तथा अविश्वासी स्वभाव की प्रतिक्रिया में व्यक्तित्व के इस विद्रोही रूप को लक्षित किया जा सकता है। शेखर की स्मृतियों के क्रम में कथा की प्रस्तुति के अंतर्गत चिन्तन निरंतर चलता रहा है, जिसको आलोचकों ने अनेक स्थलों पर रचनात्मक संयोजन में बाधक भी माना है। विद्रोह को लेकर शेखर के माध्यम से उसकी दृष्टि को रेखांकित किया गया है, "मुझे विश्वास है कि विद्रोही बनते नहीं, उत्पन्न होते हैं।" विद्रोह बुद्धि परिस्थितियों से संघर्ष की सामर्थ्य, जीवन की क्रियाओं से, परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से नहीं निर्मित होती। यह आत्मा का कृत्रिम परिवेष्ठन नहीं है, उसका अभिन्नतम अंग है।

शेखर का विद्रोही व्यक्तित्व उसके चरित्र का वह पक्ष है, जो कथावस्तु का आधार है और जिसकी अभिव्यक्ति बाल्यकाल से घटना क्रम में कार्य-व्यापारों एवं आचरण-व्यवहारों में व्यंजित हुई है। बालक शेखर के मन में माँ की अविश्वास की भावना की तीखी प्रतिक्रिया होती है। माँ के झिड़कने-कोसने और पिता के डाँटने-डपटने के बाद भी वह उस समय कुछ भी खाता-पीता नहीं है। इसी प्रकार पिता के वेतन का चेक बैंक से भुनाकर लाने पर वह माँ से कहता है—"माँ, आँचल में लो—बहुत है।" माँ आँचल फैलाने के साथ कह देती है—"आँचल तो तब फैलाऊँगी, जब तुम कमा कर लाओगे, इसके लिए क्या ?" इस कथन में अविश्वास को व्यंजित मानकर उसकी प्रतिक्रिया में वह रुपया तिपाई पर रखकर कह देता है, "गिन लो।" माँ के इस अविश्वास की प्रतिक्रिया ने उसके जीवन को प्रभावित किया और विदेशी राजतंत्र की पराधीनता से विद्रोह एवं संघर्ष करने के दौर में वह उसके अन्यायों-अत्याचारों के प्रति सर्वथा निरपेक्ष रह सका। उपन्यास की कथावस्तु का घटनाक्रम शेखर के शैशव-काल से स्मृतियों के रूप में चल रहा है, जैसे प्रकाश-किरणों से स्थितियों-घटनाओं में पात्रों को अपने कार्य-व्यापारों में उजागर कर दिया जाता हो। अगर मात्र रचना विधान की शैली के रूप में स्मृतियों का यह प्रयोग होता, उनमें पात्रों के चरित्र, घटनाओं की परिस्थिति और परिवेश का वातावरण प्रस्तुत होता है, तो शैली की विशिष्टता के स्तर पर उपन्यास के कथानक के संयोजन का सहज रूप ही माना जा सकता था। परंतु यह प्रयोग प्रथम पुरुष में कथानायक की विशेष मानसिक स्थिति के स्तर पर हुआ है। इस मनःस्थिति में कथानक की घटनाएँ और परिस्थितियाँ विशेष संदर्भ ग्रहण करती हैं और अपने भावबोध के स्तर पर पात्रों के चरित्र विशिष्ट व्यक्तित्व के रूप में व्यंजित हुए हैं।

इस प्रकार अपने रचना-विधान में प्रस्तुत उपन्यास व्यापक रूप से जीवन की घटनाओं की परिस्थितियों और पात्रों के चरित्र की मूल्यपरक अभिव्यक्तियों के स्तर पर शैली की विशेषता के कारण भाव-बोध का नया संदर्भ ग्रहण करता है। इस स्तर के रचना-विधान एवं आयाम की वस्तु के कथाक्रम की अभिव्यक्ति में प्रस्तुतीकरण का रूप महत्त्वपूर्ण हो गया है। रचनाकार हर स्तर पर अपने पाठक को अनुभवों की विशिष्टता से संवेदित करना चाहता है। इसलिए प्रस्तुत उपन्यास में अभिव्यक्ति ग्रहण करनेवाले रचना के आयामों को उसके विविध स्तरों, रूपों, प्रसंगों के वर्णन-क्रम में देखा जा सकता है। जहाँ तक कथानक का प्रश्न है, उसके वस्तु का संयोजन एवं विकास रचनात्मक विधान के रूप में नहीं हुआ है। उसमें घटनाओं, परिस्थितियों, प्रसंगों का कथा के रचनात्मक योजना के स्तर पर वर्णनक्रम नहीं है। संयोग एवं संदर्भों के अनुसार उनका उपयोग हुआ है। परंतु इन प्रसंगों को प्रस्तुत करने के साथ उनके वर्णन-सौन्दर्य एवं उससे भावव्यंजना की

दृष्टि महत्त्वपूर्ण हो गयी है। हम देखते हैं, कथा के इस क्रम में भी घटनाओं की अपेक्षा चरित्रों का आधार ही प्रमुख है। उपन्यास के पात्रों में पुरुष की अपेक्षा स्त्री पात्र अधिक प्रभावी एवं महत्त्वपूर्ण हैं। पिता-माता के बारे में कहा गया है,—"पिता आवेश में आतताई, माँ आवेश की कमी के कारण निर्दय ! पिता का क्रोध बरस जाता, तब शेखर जानता था हम फिर दोस्त हैं। माँ कुछ नहीं कहती थी, तब उसे लगता था कि वह मीठी आँच में तपाया जा रहा है।" माँ के अतिरिक्त स्त्री पात्रों में बहन सरस्वती, मौसी की लड़की शशि और बाहर की मित्र के रूप में शारदा हैं, जो शेखर के लिए विभिन्न स्तरों पर प्रेरणाएँ रहीं हैं और सही व्यक्ति की खोज में उसकी सहायक हुई हैं। पिछले जीवनक्रम की स्थितियाँ-घटनाएँ असाधारण नहीं हैं किन्तु शेखर की पीड़ित मनःस्थिति में अनायास नष्ट होते जीवन को विशेष अर्थ देती हैं। शैशव काल में उसे बहन का स्नेह और सहारा मिलता है और वयःसंधि की आयु में शारदा से संपर्क-सम्बन्ध उसके लिए महत्त्वपूर्ण घटना हैं, क्योंकि वह उसके मन में प्रेम-विरह की पहली प्रेरणा जगाती है।

विद्यार्थी जीवन के अध्ययनक्रम में मद्रास हॉस्टल के कुमार, सदाशिव, राघवन जैसे साथियों के बीच वह संतुलन नहीं बना पाता और उनके साथ कार्यक्रमों में, जीवन-पद्धति के अंतर्गत अपनी संगति नहीं बैठा पाता। अंत में क्षुब्ध और एकाकी शेखर अधिक प्रौढ़ होकर वापस आता है। कथानक के अगले क्रम में शशि और शेखर के सम्बन्ध के विकास का आधार विशेष रूप से लिया गया है। वह उसकी मौसी की लड़की है। घटनाक्रम में सम्बन्ध की यह भावना शशि के रामेश्वर के साथ विवाह, फिर संदेह के आधार पर उसके परित्याग से प्रभावित-विकसित प्रस्तुत की गयी है। इस परिस्थिति विशेष में शेखर-शशि के बीच नए सम्बन्ध का विकास हुआ है, जिसमें एक-दूसरे पर अधिकार नहीं, उत्सर्ग भाव है। इस प्रकार हम देखते हैं, उपन्यास के विस्तार में कथानक, घटनाक्रम, पात्रों के कार्य-व्यापार और उनमें अभिव्यक्त होनेवाले चरित्र सीमित हैं। अतः उपन्यास के रचनात्मक विस्तार को जिस प्रकार संयोजित किया गया है, रूप दिया गया है, वह विशिष्ट माना गया है। उसमें देशकाल की पूरी परिस्थिति, घटनाक्रम के समग्र परिवेश, पात्रों के चरित्र को व्यंजित करनेवाले संपूर्ण वातावरण का निर्माण किया गया है। इस स्तर की रचनाशैली में व्यक्ति और समाज, उनके पारस्परिक सम्बन्धों और मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम सूक्ष्म एवं सघन स्तरों पर हुआ है। प्राकृतिक विविध रूपों-दृश्यों-परिवेशों का इसी मनोवैज्ञानिक भावभूमि पर प्रयोग इसी के साथ किया गया है। और इस सारे वर्णनक्रम एवं अभिव्यक्ति के प्रयोगों के साथ जैसा उल्लेख किया गया है, उपन्यासकार की चिंतन-प्रक्रिया भी चलती रही है। वस्तुतः जो अनेक बार भिन्न प्रसंगों में अपने आप अलग भी लगती है।

उपन्यास का 'प्रवेश' ही चिंतन-क्रम भाव-व्यंजक प्रतिक्रियाओं के ऊहापोह से हुआ है। प्रमुख पात्र शेखर अपने आत्म-कथन के रूप में प्रत्यावलोकन के स्तर पर प्रारंभ करता है। जीवन और मृत्यु के बीच 'फाँसी' की संभावना-परिकल्पना रचना के दोनों स्तरों पर गतिशील है। एक ओर काव्यात्मक भावव्यंजना के स्तर पर उसका सम्मोहन-आकर्षण है, तो दूसरी ओर जीवन की सिद्धि और सार्थकता के रूप में उसे ग्रहण करनेवाला चिंतनक्रम है। काव्यमयी भावाभिव्यक्ति इस प्रकार है—"मुझे तो फाँसी की कल्पना सदा मुग्ध ही करती रही है ... उसमें साँप की आँखों-सा एक अत्यंत तुषारमय सम्मोहन होता है...एक सम्मोहन, एक निमंत्रण, जो कि प्रतिहिंसा के इस यंत्र को भी कवितामय बना देता है, जो कि उस पर बलिदान होते हुए अभागे—या अतिशय भाग्यशाली !—को जीवन की एक सिद्धि दे देता है, और उसके असमय अवसान को

भी संपूर्ण कर देता है।" और इस अभिव्यक्ति के साथ जीवन और जगत् को लेकर चिन्तनक्रम का ऊहापोह भी चलता है, "फाँसी क्यों ! अपराधी को दंड देने के लिए ! पर इससे क्या वह सुधर जायेगा ! इससे क्या उसके अपराधों का मार्जन हो जायेगा ! जो अमिट रेखा उसके हाथों खिंची है वह क्या उसके साथ मिट जायेगी ! फाँसी, दूसरों को शिक्षा देने के लिए ! पर यह कैसी शिक्षा कि जीवन के प्रति आदर-भाव सिखाने के लिए उसी की घोर हृदयहीन उपेक्षा का प्रदर्शन किया जाय !" परंतु इस प्रकार का चिंतन, ऊहापोह कथानक की रचना में समाहित होकर उसका अंग हो जाता है और पात्र के चरित्र को व्यक्त करता है। इस प्रारंभ में ही उपन्यास के प्रमुख पात्र का चरित्र इस स्तर पर निर्दिष्ट हुआ है—"और जब दीखता है कि मेरी भटकन में भी एक प्रेरणा थी, जिसमें अंतिम विजय का अंकुर था, मेरे अनुभव-वैचित्र्य में भी एक विशेष रस की उपभोगेच्छा थी जो मेरा निर्देश कर रही थी।"

उपन्यास के कथानक का यह 'प्रवेश' रचना के सभी आयामों, वस्तु के पात्र-परिस्थिति के प्रमुख संदर्भों और भावभूमि के स्तरों को उद्‌घाटित करता है। उसको जिस परिवेश और वातावरण में आगे विकसित किया गया है, उसका आभास यहाँ मिल जाता है। शेखर शशि का यहाँ परिचय देता है—"सबसे पहले तुम, शशि ! इसलिए नहीं कि तुम जीवन में सबसे पहले आयीं या कि तुम सबसे ताजी स्मृति हो। इसलिए कि मेरा होना अनिवार्य रूप से तुम्हारे होने को लेकर है...तुम जीवित नहीं हो। मेरे शेखर के बनने में ही टूट गयी हो—शायद स्वयं शेखर के हाथों ही टूट गयी हो।" इस क्रम में शशि के वैवाहिक जीवन की कारुणिक परिणति को अपने अनुभव की मार्मिक भावव्यंजना के स्तर पर परिचय दिया गया है—"बहुत ही स्पष्ट, अचूक दृष्टि से मैंने देखा, मेघाच्छन्न आकाश, प्रकाशहीन सायंकाल, पवन अचंचल और उड़ते-उड़ते सहसा पंख टूट जाने से विवश गिरता हुआ अकेला ही अकेला एक पक्षी, जो गिरता है और फिर अपनी उड़ान, अपना स्थान पा लेने के लिए छटपटा रहा है, छटपटा रहा है...।" यहाँ कथाक्रम में विकसित-व्यंजित होनेवाले शशि के व्यक्तित्व की सघन-मार्मिक व्यंजना हुई है। इस 'प्रवेश' के अगले चित्र में पिता और परिवार के परिवेश में शशि के संपर्क में विकसित होनेवाले अपने विशिष्ट सम्बन्धों को इसी स्तर पर व्यक्त किया है। "सगी बहन न होकर भी उस सम्बन्ध से उसे यदि कोई अंतर जान पड़ता भी तो दूरी का नहीं, बल्कि अधिक समीपत्व का, एक निर्बाध सखाभाव का। यह भाव जैसे प्रातःकालीन शारदीय धूप की तरह है जिसमें वह उस घर की ही नहीं, अपने अंतर की छायाओं को भी सुला लेती है।"

कथावस्तु के रचनात्मक आयाम में 'प्रवेश' पात्रों की संवेदनाओं, मनःस्थितियों, संवेदनाओं की भावभूमिका प्रस्तुत करता है और साथ ही उनको व्यंजित करनेवाले प्राकृतिक परिवेश के संकेत भी देता है। अपनी बहिन को गाते सुनकर बालक के मन में अकस्मात् जागनेवाला भाव "एकाएक उत्पन्न नहीं हुआ, कई दिनों से धीरे-धीरे उसके हृदय में अंकुरित हो रहा है, किन्तु उसकी व्यंजनीय संपूर्णता नयी है, आज ही मालाएँ पहनाते समय और गायन सुनते समय उसके मानसिक क्षितिज के ऊपर आयी है।" और इसी स्थल पर प्राकृतिक परिवेश का व्यंजक चित्र भी है।"बजरा मानसबल झील में प्रवेश कर रहा है...चिनार वृक्षों की घनी छाया भी बहुत दूर रह गयी है। अब तो झील की निर्मलता, आकाश की अनभ्रता को प्रतिबिम्बित कर रही है, और झील के अन्तर में उगती हुई लंबी-लंबी घास सूर्य की ज्योति को प्रतिबिंबित करती हुई, अनेक रंगों में चमक रही है...कहीं सुनहरी, कहीं लाल, कहीं एक प्रोज्ज्वल हरापन लिए हुए। और उनकी उलझन को चीरकर कभी-कभी कोई किरण तल पर पड़े किसी पत्थर को चमका देती है।" इस

प्रकार के वातावरण-परिवेश से कथाक्रम में निरंतर विभिन्न स्तरों पर भाव व्यंजना हुई है। शेखर की स्मृति के क्रम में इसके साथ झील का दूसरा दृश्य, चित्र, भिन्न भावभूमि पर उभरता है और वह अनुभव करता है, "सौन्दर्य कितना नग्न और नग्नता कितनी सुन्दर है।" वस्तुतः कथानक के रचनात्मक संयोजन एवं विकास में शेखर अपने परिवेश एवं वातावरण से अधिक प्रतिक्रियाशील हुआ है। जिन पात्रों के सम्बन्ध को मानसिक भावभूमि पर संवेदनाओं—अनुभूतियों के स्तर पर वह जी रहा है उनको लेकर वह चिन्तन के ऊहापोह में है और अपनी परिस्थिति को इसी स्तर पर ग्रहण करता है।

रचनाकार के रूप में 'अज्ञेय' ने अपने उपन्यास का प्रारंभ ही चिंतनक्रम से किया है, जो जीवन की विशेष परिस्थिति की मानसिकता पर चल रहा है। वह स्वयं इसको अभिव्यक्त करते हैं, कहूँगा ! "ज्यों-ज्यों अपने जीवन की कहानी को सोचता हूँ, उसकी एक-एक बातों को नाप-तोल कर, उसकी विवेचना एक विद्रोही के जीवन में उसके महत्त्व पर विचार करता हूँ, त्यों-त्यों उसके प्रति मेरा आदर-भाव बढ़ता जाता है। इस जीवन में भी कुछ है, एक उत्ताप एक ऊर्ध्वगामी दीप्ति, जो यदि विद्रोह की शक्ति नहीं, तो विद्रोही-शक्ति की उपासना-सामर्थ्य अवश्य है।" 'प्रवेश' के अंत में और कथाक्रम प्रारंभ करते समय वस्तुविधान में शेखर के व्यक्तित्व के प्रथम तथा अन्य पुरुष रूप में प्रयोग का उपयोग भी इसी स्तर पर हुआ है—"अतः जिसकी कहानी में निहित संदेश को प्रकट करूँगा वह 'वह' ही है। उसका नाम है—'शेखर'। वह इस समय मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है। उसी प्रतीक्षा में वह अपना अपनापन व्यक्त किए जा रहा है; और मैं उसके जीवन के सत्यों को पढ़कर, उनका निष्कर्ष निकाल कर और शब्दबद्ध करके छोड़े जा रहा हूँ।"

इस प्रकार हम देखते हैं, प्रस्तुत उपन्यास का रचना-विधान विशिष्ट है, वह परंपरित रूप में कथाक्रम को संयोजित करनेवाला नहीं है। उसमें घटनाक्रम और पात्रों के पारस्परिक व्यवहार-आचरण का इस स्तर पर प्रयोग भी नहीं किया गया है। चरित्रों का विकास और उनके मनोविज्ञान का उपयोग सामान्य वर्णन-शैली में नहीं हुआ है। जैसा कहा गया है, उसमें इन सब तत्त्वों-अंगों का उपयोग-प्रयोग आंतरिक संगति के रूप में हुआ है। इस रचनात्मक स्तर पर काव्याभिव्यक्ति के समान इन सबसे अनुभूति-संवेदना के भाव-बोध को अभिव्यक्त एवं संप्रेषित करने का लक्ष्य ही प्रमुख रहा है। यही कारण है कि सामाजिक-पाठक के लिए इसका आकर्षण कथाक्रम के स्तर पर विशेष न रह कर सौन्दर्यबोध का है, जो मनोरंजन से अधिक मन को आह्लादित-उल्लसित करता है।

□□□

गोपालराय

'शेखर : एक जीवनी' : : वस्तु एवम् शिल्प

'शेखर : एक जीवनी' का केन्द्रीय विषय 'शेखर' नाम के एक कल्पित पात्र का चरित्र है। अज्ञेय ने खुद भी इस तथ्य को अनेकत्र स्वीकार किया है। आत्मनेपद में वे लिखते हैं : "जैसे क्रिस्ताफ में लेखक एक आत्मान्वेषी के पीछे उसका चित्र खींचता चला है, वैसे ही मैं एक दूसरे आत्मान्वेषी के पीछे चला हूँ।....मुझे इसमें बड़ी दिलचस्पी रही है कि आतंकवादी का मन कैसे बनता है। शेखर की रचना इसी से आरम्भ हुई।[1] "शेखर की खोज अन्ततोगत्वा स्वातन्त्र्य की खोज है।"[2]

'शेखर : एक जीवनी' की भूमिका में अज्ञेय लिखते हैं : "क्रांतिकारी अन्ततोगत्वा एक प्रकार के नियतिवादी होते हैं। लेकिन यह नियतिवाद उन्हें अक्षम और निकम्मा बनानेवाला कोरा भाग्यवाद नहीं होता, वह उन्हें अधिक निर्मम होकर कार्य करने की प्रेरणा देता है। इसमें वह गीता के कर्मयोग से एक सीढ़ी आगे होता है—क्योंकि वह कर्ता को निरा निमित्त नहीं बना देता। यदि यों कहा जाय कि क्रांतिकारी का नियतिवाद अटल नियति की स्वीकृति न होकर जीवन की विज्ञानसंगत कार्यकारण परम्परा पर गहरा (यद्यपि अस्पष्ट) विश्वास होता है तो शायद सच्चाई के निकट होगा।....शेखर एक जीवनी के क्रांतिकारी नायक ने अपने जीवन में इसी नियति के सूत्र को पहचानने का प्रयत्न किया है।"[3]

शेखर से हमारी प्रथम भेंट जेल की कालकोठरी में होती है जहाँ वह एक फाँसी की सजा पाए हुए कैदी के रूप में मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है। शेखर यह तो जानता है कि उसकी मृत्यु बहुत निकट है, ध्रुव है, पर यह तथ्य ऐसे विचलित नहीं करता। हम उसे आत्मचिन्तन में रत पाते हैं ; "मैं क्या हूँ ? मेरा ममत्त्व क्या है ? जिसके अंत के लिए इतनी शक्ति व्यय की जा रही है, इतना आयोजन हो रहा है, उस जीवन की सत्यता क्या थी ? वायु में उड़ती धूल पर खिंची रेखा, और बस ? नित्यता क्षणों की है ; पर क्षण क्षणभंगुर है। मैं भी हूँ। मुझमें जो कुछ नूतनता है, उसे मुझे इसी क्षण में कह डालना है, क्योंकि वह भविष्य की वस्तु है, मैं उसे कहे बिना रुक नहीं सकता।"[4]

स्पष्ट है कि शेखर की (या अज्ञेय की) कालचेतना पश्चिमी कालचेतना नहीं है जो मूलतः

1. आत्मने पद, 64
2. वही, पृ० 64
3. शेखर : एक जीवनी भूमिका पृ० 68
4. शेखर : एक जीवनी पृ० 36-37

ऋजु रेखानुसारी है, वरन वह उस डमरू की तरह है जो एक बड़े वृत्त में घूमता है। काल की बृहत्तर, चक्राकार गति के साथ अत्यन्त वर्तमान क्षण के प्रति गहरा लगाव—"काल का वृत्त भी, और उस पर डमरू द्वारा प्रतीकित क्षण चेतना भी जो अतीत-वर्तमान-भविष्यत् की नित्य शृंखला स्वीकार करती हुई भी अपनी दृष्टि केन्द्रित कर रही है उस क्षण पर ही जो यथाशक्य छायारहित क्षण है—स्मृति और आकांक्षा दोनों में संस्पर्श से यथासम्भव मुक्त है। यह एक निरवधि प्रवहमान अस्ति है—प्रत्यावर्ती सनातन काल के चक्र पर अविखंडनीय कालाणुओं का अजस्र क्रम।[1]

अज्ञेय की इस कालचेतना को, जो कि शेखर की भी काल-चेतना है, बिना ध्यान में रखे 'शेखर : एक जीवनी' के कथ्य और शिल्प का आशंसन सम्भव नहीं। इस कालचेतना से युक्त मनःस्थिति में शेखर अपने जीवन का प्रत्यवलोकन करता है, "अपनी विद्रोह शक्ति की, अपनी क्रांति शक्ति (विल टु रिवोल्यूशन) की गाथा" प्रस्तुत करता है। वह अपने अतीत को याद नहीं करता, उसे पुनः जीता है। शेखर अपनी जीवन-यात्रा के अन्तिम पड़ाव पर पहुँचकर पीछे देखता है कि कहाँ से चलकर किधर-किधर भूल-भटककर कैसे-कैसे विचित्र अनुभव प्राप्त करके यहाँ तक आया है। उसे दीखता है कि उसकी भटकन में भी एक प्रेरणा थी, जिसमें विजय का अंकुर था। वह एक क्रांतिकारी है, जिसे न्यायालय ने फाँसी की सजा दी है। यद्यपि अज्ञेय के अनुसार उसे फाँसी होती है एक ऐसे अपराध के लिए जो उसने नहीं किया है और उपन्यास के तीसरे भाग में वह हिंसावाद से आगे बढ़ जाता है, तथा एक स्वतंत्र और पूर्ण मानव बनकर मरता है।[2] पर यह हमारा विचारणीय विषय नहीं हैं, क्योंकि शेखर का तीसरा भाग अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। दूसरे भाग तक शेखर मुख्यतः हमारे समक्ष स्वातन्त्र्य की खोज में लगे विद्रोही के रूप में ही आता है और यही हमारा विवेच्य विषय हो सकता है।

'शेखर' के प्रथम और द्वितीय भाग में उसके जन्म से लेकर बीस वर्षों की जिन्दगी प्रस्तुत हुई है। प्रारम्भ में हमारे सामने अनेक दृश्यों के रूप में उसका प्रारम्भिक शैशव (जन्म से छह वर्ष तक) आता है। शेखर मानता है कि "विद्रोही बनते नहीं, उत्पन्न होते हैं। विद्रोह-बुद्धि परिस्थितियों से संघर्ष की सामर्थ्य, जीवन की क्रियाओं से, परिस्थितियों के घात-प्रतिघातों से, नहीं निर्मित होती है। वह आत्मा का कृत्रिम परिवेष्टन नहीं है। उसका अभिन्नतम अंग है।"[3]

शेखर स्वयं एक जन्मना विद्रोही है और उपर्युक्त विचार को पूरी तरह से उदाहृत करता है। प्रत्येक शिशु की तरह शेखर में भी 'काम', 'अहं' और 'भय' की आदिम सहज वृत्तियाँ विद्यमान हैं जिनका चित्रण अज्ञेय ने मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और पूरी यथार्थता से किया है। इनमें अहं और भय की कृतियाँ शेखर को क्रांतिकारी बनाती हैं। अहं भाव की प्रबलता शेखर को बचपन से ही विद्रोही बना देती है। इसकी पुष्टि उसके जीवन के अनेक प्रसंगों से होती है। मात्र तीन वर्ष की उम्र में वह सहज बालक्रीड़ावश लेटरबाक्स पर घोड़े की तरह सवार होता है और जब डाकिया उसे उतरने को बाध्य करता है तो वह इस प्रकार कूदता है कि डाकिए का पैर कुचल जाता है। प्रतिशोध की यह भावना विद्रोह-चेतना का ही परिचायक है। लगभग इसी उम्र में वह अजायबघर के चर्मव्याघ्र को देखकर भयभीत होता है और कई दिनों तक उसके प्रभाव में बुखारग्रस्त रहता है तथा स्वप्न में भय से चीखता है। यह डर तब समाप्त होता है जब शेखर

1. अज्ञेय, आलबाल, पृ० 108
2. आत्मनेपद, पृ० 65
3. शेखर : एक जीवनी, पहला भाग, पृ० 27

अपने घर में आए एक वैसे ही चर्मब्याघ्र को फाड़कर उसके भीतर भरे घास-फूस को बिखेर देता है और हँसता है। यह घटना शेखर की विद्रोही चेतना पर मानो शान चढ़ा देती है—"शिशु ने जाना, डर डरने से होता है। संसार की सब वस्तुएँ भयानक हैं, केवल एक घासफूस से भरा निर्जीव चाम से डरना मूर्खता है।" शेखर के बचपन का यह विश्वास, यह उपलब्ध सत्य उसके सारे जीवन को दिशा देता रहता है। इस सत्योपलब्धि के बिना क्रांतिकारी बनना सम्भव ही नहीं है। शेखर अपने लिए इस सूत्र की खोज करता है कि "जब भी कोई भयानक वस्तु देखो, तब डरो मत, उसका बाह्य चाम काट डालो, उसके भीतर भरी हुई घास-फूस निकालकर बिखरा दो, और हँसो।" यह सूत्र शेखर के जीवन की प्रमुख प्रेरणा बन जाता है। वह जीवन भर इसी सूत्र पर चलता है जिसके फलस्वरूप वह दूसरों की नजर में उद्धत, विध्वंसक और हिंस्र भी बन जाता है। उसके अन्त में, आतंकवादियों के दल में सम्मिलित होने की प्रेरणा का बीज इस घटना में देखा जा सकता है।

शेखर की जन्मजात विद्रोह भावना उसके शैशव की अन्य अनेक घटनाओं में देखी जा सकती है। उसका विद्रोह व्यक्त होता है अपने कान्वेन्ट स्कूल में, जहाँ वह 'सिस्टर' की उपेक्षा करने में उससे प्रतिशोध लेने में सफल होता है। शेखर को कोई 'मास्टर' पढ़ा नहीं पाता और न वह किसी स्कूल में टिक पाता है। कोई उससे सिर लड़ाकर भागता है, कोई अपमानित होकर, कोई बेवकूफ बनकर। स्कूल में वह अपने शिक्षक को अपमानित करता है, गाली देकर चला जाता है और उसकी पढ़ाई छूट जाती है। शेखर अपने बचपन की इन घटनाओं के आधार पर इस मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'बालक' को जब 'पढ़ाया' जाता है तब वह विद्रोह करता है, किन्तु जब विद्रोही को छोड़ दिया जाता है तब उसकी स्वाभाविक जिज्ञासा उसे बाध्य करती है। वैसे तो यह मनोवैज्ञानिक तथ्य कमोबेश सभी बालकों पर लागू होता है, पर विद्रोही स्वभाव के बालकों में उग्रतर रूप में दिखाई पड़ता है। कहना नहीं होगा कि स्कूली और परम्परागत शिक्षा के प्रति शेखर का यह विद्रोह उस भावी विद्रोह और स्वातन्त्र्य की खोज से अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है, जिसे वह बाद में चलकर पूर्णतः समर्पित होता है।

शेखर की यह शैशवकालीन विद्रोही भावना अन्तर्मुखीनता और चिन्तनशीलता के रूप में दिखाई पड़ती है। अपने चारों ओर के वातावरण से टकराकर, बाहर से हारकर, कछुए की तरह अपने अहं के खोल में प्रविष्ट हो जाता है, स्वनिष्ठ हो जाता है। वह सोचता है : "मैं अकेला इसलिए हूँ कि मैं उस प्रकार का नहीं हूँ, जिसे लोग अच्छा कहते हैं, मैं पढ़ता नहीं हूँ, किसी का कहना नहीं मानता, ढीठ हूँ, लड़ाका हूँ, शैतान हूँ।"[1] वस्तुतः ये निर्णय समाज के हैं, बाहरी हैं, जो शेखर पर आरोपित कर दिये गये हैं और शेखर आत्मलीन होकर, अपने को समाज से काटकर 'सविनय अवज्ञा' के ढंग का विद्रोह करता है। वह एकान्त में 'अच्छे' और 'बुरे' के बारे में 'ईश्वर' के बारे में सोचता रहता है।

शिशु शेखर बन्धनों से घृणा करता है जो उसकी विद्रोही चेतना का परिचायक है। उसके आस-पास फैला हुआ संसार उसके लिए केवल बन्धनों की सृष्टि करता है और इसलिए शेखर प्रकृतिप्रेमी हो जाता है। वह पाता है कि "उसके संसार के अलावा एक और संसार है, जिसमें पक्षी रहते हैं, जिसमें स्वच्छन्दता है। जिसमें विश्वास है, जिसमें स्नेह हैं, जिसमें सोचने की या खेलने की अबाध स्वतंत्रता हैं जिसका एकमात्र नियम है—वही होओ जो कि तुम हो।"[2] पक्षियों

1. शेखर : एक जीवनी, पहला भाग, पृ० 57
2. वही पृ० 61

से शेखर को स्वातन्त्र्य की खोज की प्रेरणा मिलती है। यही उसका जीवन दर्शन बन जाता है। एक दिन शेखर को अपने बाग के माली से बाग और जंगल का भेद मालूम होता है और तब जंगल उसकी कल्पना का स्वर्ग बन जाता है, जहाँ पूर्ण उन्मुक्तता, निचाट बन्धनहीनता होती है।

शेखर की विद्रोही चेतना उसके बचपन की अवस्था (7-12) में भी अनेक रूपों में दिखाई पड़ती है। धीरे-धीरे यह चेतना मात्र सहज न रहकर बाहरी परिस्थितियों से भी जुड़ने, और प्रेरित होने लगती है। शेखर के बाग में एक कलमी आम है जिस पर कुछ फल पके से दीखते हैं, जिनके पकने की प्रतीक्षा शेखर महीनों से कर रहा है। जब वह माली से आम तोड़ देने को कहता है तो वह साहब (शेखर के पिता) के पास डाली लगाकर ले जाने की बात कहकर उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। शेखर इसे अन्याय, अपने अधिकार का हनन समझता है और उसके विरोध में पेड़ पर चढ़कर न केवल पके आम खा जाता है वरन कच्चे फल भी तोड़कर बर्बाद कर देता है। ऐसा है शेखर का उग्र प्रतिशोध और प्रचंड विद्रोह का भाव।

बालक शेखर अपमान सहकर चुप नहीं लगा सकता, चाहे अपमान करने वाला कोई भी क्यों न हो। वह अपनी माँ से इसलिए घृणा करने लगता है कि वह बार-बार उसके अहं को चोट पहुँचाती है। अपनी बाल साथी प्रतिभा से उसकी मैत्री गहरे स्तर पर होती है, किन्तु एक बार उसके घर पर अपमानित होने पर वह उसे सदा के लिए भूल जाता है और जाते-जाते प्रतिशोध लेने से भी बाज नहीं आता। वह अपने पिता के मित्र के लड़के को सबकी उपस्थिति में ही इसलिए पीट देता है कि वह उसके भारतीय ढंग से नमस्ते किए जाने के जवाब में हिकारत से मुसकुराकर, 'गुडनाइट डियर' कहकर, उसे अपमानित करता है। इसके लिए वह बाद में अपने पिता से खूब पिटता है, पर इससे उसे सन्तोष ही मिलता है। ये सारी स्थितियाँ शेखर की विद्रोही प्रकृति की सूचना देती हैं।

मृत्यु के प्रति उपेक्षा और निर्भयता का भाव क्रांतिकारियों की विशेषता है। शेखर कहता है : "मुझे तो फाँसी की कल्पना सदा मुग्ध ही करती रही है—एक सम्मोहन एक निमन्त्रण जो कि प्रतिहिंसा के इस यन्त्र को भी कवितामय बना देती है।"[1]

इस मनोवृत्ति की भी झलक हमें शेखर की शैशव और किशोरावस्था में मिल जाती है। तैरना न जानने पर भी अपने भाइयों की देखा-देखी झील में कूद जाना और मरणासन्न स्थिति में बाहर निकाला जाना, महाबलीपुरम में समुद्र में डूबने से किसी प्रकार बच जाना आदि घटनाएँ इस मनोवृत्ति की सूचक हैं। शिशु शेखर को इस बात से बड़ा आश्चर्य होता है कि लोग मृत्यु से क्यों डरते हैं ? अपने माता-पिता को मृत्यु से आतंकित होते देखकर, उसके मन में मृत्यु के प्रति जिज्ञासा और अन्ततः आकर्षण का भाव पैदा हो जाता है। अपने बालसाथियों से वह बड़े गर्व के साथ कहता है : "अरे, अभी हुआ क्या है, अभी तो मैं फिर किसी दिन ऐसे ही करूँगा।"[2]

जैसा अज्ञेय ने आत्मनेपद में संकेतित किया है, स्वातन्त्र्य की खोज शेखर के व्यक्तित्व की सबसे प्रमुख प्रेरणा है और इसकी झलक उसके बचपन की अनेक घटनाओं में देखी जा सकती है। उसका पाले हुए पक्षियों को मुक्त कर देना, घर के बन्द, घुटनपूर्ण परिवेश से भागकर प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में शरण लेना, स्कूल के कायदों और बन्धनों को अस्वीकार करना,

1. **शेखर : एक जीवनी, पहला भाग, पृ० 15**
2. वही पृ० 42

सामाजिक निषेधों का उल्लंघन आदि, इसी मनोवृत्ति के परिचायक हैं।

उत्तरवर्ती बाल्यावस्था (10-12 की उम्र) में ही शेखर की स्वातन्त्र्य की खोज अधिक व्यापक सामाजिक भूमि में प्रवेश करती है। देश में असहयोग की लहर आने पर (1920 के आसपास) वह महसूस करता है कि उसका देश पराधीन है : "और तब शेखर भी उस लहर में बहने की चेष्टा करने लगा और जब नहीं बह पाया तब हाथों से खेकर अपने को बहाने लगा...उसने विदेशी कपड़े उतार कर रख दिये, जो दो-चार मोटे देशी कपड़े उसके पास थे, वही पहनने लगा।"[1] जब उसके निकट से कोई जुलूस गुजरता है तो वह उसके साथ स्वर मिलाकर गाँधीजी की जयकार करता है। इससे आगे बढ़ने की अनुमति उसे नहीं है ! पर अनुमति का न होना ही तो एक अंकुश है, जो निरन्तर उसे कोई मार्ग ढूँढ़ने के लिए प्रेरित किया करता है। शेखर इस चुनौती को स्वीकार करता है और एक दिन जब उसकी माँ कहीं बाहर गयी हुई हैं, वह घर के सारे विदेशी कीमती कपड़ों की होली जला डालता है, जिसके लिए वह पिटता है। इस प्रकार स्वातन्त्र्य का मूल्य चुकाना भी वह घर से सीखने लगता है, जिसकी परिणति होती है फाँसी की सजा में, जिससे बढ़कर, किसी चीज की, और कोई कीमत नहीं हो सकती।

शेखर की विद्रोही-चेतना आरम्भ में ही सामाजिक विषमता से जुड़कर उसे क्रांतिकारिता के मार्ग की ओर उन्मुख करती है। सामाजिक विषमता से शेखर का परिचय उसके शैशव में ही हो जाता है। उसकी खेल की एक सखी फूलां किसी अछूत जाति की लड़की है। शेखर को उसके साथ खेलने से मना किया जाता है। वह कारण पूछता है तो डाँटकर चुप कर दिया जाता है। शेखर मान जाता है, पर अनमना हो जाता है और एक दिन फूलां की माँ को स्वाभिमानपूर्वक अपनी जाति का उल्लेख करते सुन उसकी पूजा तक करने लगता है। पीड़ित और दलित मानवता के प्रति सहानुभूति का यह पहला पाठ है जो शेखर को अपने पड़ोस में ही मिल जाता है। सामाजिक और आर्थिक विषमता का सबसे तीखा अहसास होता है उसे मद्रास में लगभग तेरह-चौदह वर्ष की अवस्था में जब वह वहाँ कॉलेज में पढ़ने के लिए जाता है। वहाँ ब्राह्मण और शूद्र छात्रों के अलग-अलग छात्रावास हैं। चूँकि शेखर शिखा नहीं रखता, जनेऊ नहीं पहनता, पूजा-पाठ नहीं करता, अतः अन्य ब्राह्मण छात्र उसे ब्राह्मणों के छात्रावास से निकाल देने के लिए प्रिन्सिपल के पास आवेदन भेजते हैं। यद्यपि प्रिन्सिपल का फैसला शेखर के पक्ष में होता है पर वह इस घटना से बहुत ही अपमान और क्षोभ का अनुभव करता है और अपने अवसाद को मिटाने के लिए एक हरिजन मित्र के साथ मालावार घूमने चला जाता है। वहीं वह हरिजनों के प्रति ब्राह्मणों के नृशंस अत्याचार से परिचित होता है। किसी वर्जित सड़क पर चलने के लिए एक अछूत स्त्री की कोई हत्या कर डालता है। शेखर उस स्त्री को कंधे पर लादकर रामकृष्ण मिशन भवन ले जाता है, पर वह बच नहीं पाती। यह घटना शेखर को झकझोर जाती है, उसकी शिक्षा पूरी हो जाती है। वह मद्रास लौटते ही ब्राह्मण छात्रावास छोड़कर हरिजन छात्रावास में चला जाता है। उस दिन से हरिजन छात्र उसके मित्र और सखा बन जाते हैं। शेखर हरिजन छात्रों से मिलकर एक दल की स्थापना करता है जिसका लक्ष्य समाज-सुधार है। वह अछूतों के मुहल्ले में बच्चों के लिए एक स्कूल खोलता है और वहाँ नियमित रूप से पढ़ाने जाता है।

एक अन्य घटना से शेखर को समाज में नारी की स्थिति का अहसास होता है। रेलयात्रा

---

1. शेखर : एक जीवनी, पहला भाग, पृ० 42

में एक अपरिचित महिला का अपमान करने वाले गुंडे की मरम्मत करने पर सहयात्रियों की प्रतिक्रियाओं को देखकर-सुनकर शेखर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "नौजवानों में जितना गम्भीर असंतोष और परिवर्तनशीलता जगाने की जरूरत है, उतना ही स्त्रियों में भी जगाना चाहिए।...नारीमात्र में अविश्वास नारीत्व को ही पापात्मा मानने का संगठित षड्यन्त्र नष्ट करना होगा।"[1] वह अपने कैशोर विद्रोह को 'ऐंटिगोनम क्लब' की बैठकों में अभिव्यक्त करता है।

इस प्रकार 'शेखर एक जीवनी' के प्रथम भाग में शेखर के जीवन के लगभग 17 वर्षों की कहानी आती है और इसमें पर्याप्त सफलता के साथ उसके जीवन में नियति के सूत्र को ढूँढ़ने तथा 'उसका मन कैसे बनता है'—इस प्रश्न को हल करने की कोशिश की गयी है। पर दूसरे भाग में पहुँचकर वह खोज भटकन में बदल जाती है और शेखर का चरित्र, जो उपन्यास का विषय है, असंगतियों और कलात्मक स्खलन का शिकार हो जाता है।

शेखर किस प्रकार क्रांतिकारी बनता है, उसका लक्ष्य क्या है, उसकी विचारधारा क्या है, ये सब बातें 'शेखर : एक जीवनी' के तीसरे भाग के अप्रकाशित रहने के कारण अज्ञात हैं। उपन्यास के दूसरे भाग में क्रांतिकारी के रूप में शेखर का चरित्र कोई प्रभाव नहीं छोड़ता। हम उसके क्रांतिकारी दल में शामिल होने की सूचना अवश्य पाते हैं, पर क्रांतिकारी के रूप में कुछ करते हम उसे नहीं देखते। दल के लिए पैम्फलेट या 'उपन्यास' लिख देना या दादा के साथ यमुना के पार जाकर रिवाल्वरों की जाँच के समय पुलिस की निगरानी करना, इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उपन्यास के पहले भाग में हम शेखर को जिस सामाजिक और राजनीतिक चेतना से जुड़ते पाते हैं, दूसरे भाग में उसका फिर आभास तक नहीं मिलता। सामाजिक विषमता, राजनीतिक पराधीनता और नारी की गुलामी के प्रति उसका आक्रोश भाव कहाँ गायब हो जाता है ? तर्क पेश किया जा सकता है कि इसीलिए तो शेखर क्रांतिकारी दल में प्रवेश करता है। पर कहाँ है वह विचारधारा, कार्यक्रम और रणनीति जिसके माध्यम से ही समकालीन ब्रिटिश शासन और सामन्तवादी समाज-व्यवस्था बदली जा सकती थी। मेरी दृष्टि में शेखर के चरित्र का विकास सही दिशा में नहीं हुआ है, अथवा वह अधूरा रह गया है।

'शेखर : एक जीवनी' में शेखर के क्रांतिकारी रूप से अधिक प्रभावशाली उसका प्रेमीरूप है। शशि और शेखर का प्रेम-सम्बन्ध हिन्दी उपन्यास के प्रेम-चित्रण में विशिष्ट स्थान रखता है। शेखर का क्रांतिकारी रूप चाहे जितना भी अविश्वसनीय और प्रभावहीन हो—उसे हम थोड़ी देर के लिए भूल जाएँ—उसका प्रेमी रूप अत्यन्त प्रौढ़ और कलात्मक रूप में चित्रित हुआ है।

शिशु शेखर में अहं, भय और काम की वृत्तियाँ प्रारम्भ से ही प्रखर रूप में विद्यमान हैं। अहं और भय की वृत्तियों से जहाँ उसके क्रांतिकारी रूप का विकास होता है, वहाँ उसकी कामवृत्ति अन्ततः प्रौढ़ प्रेम में परिणत होती है। उपन्यास में इस विकास को कलात्मक और सधे रूप में अंकित किया गया है। अपनी जीवनी लिखने के प्रयत्न में शेखर के मन में जो तीसरी स्मृति (पहली शेखर के लेटरबॉक्स पर सवारी करने और दूसरी चर्मव्याघ्र से डरने की है) उगती है वह किसी वीभत्स दृश्य की है, जो कुछ अनुचित, कुछ वर्जित, कुछ घृणास्पद और कुछ जुगुप्साजनक' है। इससे शेखर की कामवृत्ति का संकेत मिलता है। कतिपय आलोचकों ने अज्ञेय पर 'अश्लील' होने का आरोप लगाया है, जबकि मुझे लगता है अज्ञेय ने काम-दृश्यों के चित्रण में जरूरत से ज्यादा संयम और संकोच बरता है जिसके फलस्वरूप उपन्यास में अंकित

1. शेखर : एक जीवनी, पहला भाग, पृ० 115

काम-दृश्य उतने जीवन्त और मार्मिक नहीं बन पाये हैं, जितने अन्य दृश्य। जिस दृश्य के प्रसंग में यही बात कही जा रही है वह स्पष्टवादिता की कमी के कारण ही अस्पष्ट और धूमिल रह गया है, बल्कि यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि वह दृश्य बन ही नहीं पाया है।

शेखर का प्रथम परिचय जिन नारियों से होता है वे हैं उसकी माँ और बड़ी बहन सरस्वती। माँ के साथ तो उसका सम्बन्ध कटुता और घृणा का हो जाता है, पर सरस्वती के साथ आरम्भ से ही उसके सम्बन्ध में मधुरता बनी रहती है। सरस्वती से उसका सम्बन्ध इतना गहरा और आन्तरिक हो जाता है कि उसकी शादी तय होने की सूचना पाकर वह बेचैन हो उठता है। इसके बाद वह एक महीने तक बीमार रहता है और बीमारी से उठने पर उसकी मनःस्थिति ऐसी हो जाती है कि जो कभी रोता नहीं था, अब अकारण रोने लग पड़ता। कभी रोटी खाते-खाते छोड़कर उठ जाता और कमरे में आकर रोने लगता।

शेखर का सरस्वती के प्रति यह प्रेम प्रचलित नैतिक मान्यताओं के प्रतिकूल होने पर भी मनोविज्ञान समर्थित है। यहाँ तक कि कुछ आलोचकों को यह 'किताबी' तक प्रतीत होता है। अज्ञेय ने साहस के साथ ही नहीं, कलात्मकता के भी साथ बहन के प्रति भाई के प्रेम को एक नया आयाम प्रदान किया है। शेखर और सरस्वती का प्रेम भाई-बहन के सामान्य प्रेम की तुलना में अधिक अन्तरंग, अधिक गहरा, अधिक तीव्र है, जिसका कारण कदाचित् शेखर का कामाकर्षण ही है।

सरस्वती के बाद शेखर के परिचय-क्षेत्र में आनेवाली दूसरी लड़की शशि है, जिससे बाद में चलकर शेखर का बहुत ही गहरा और अंतरंग सम्बन्ध स्थापित होता है। उपन्यास में शशि और शेखर की पहली मुलाकात के प्रसंग का निर्माण बहुत ही कलात्मक ढंग से हुआ है। इस मुलाकात में दोनों एक दूसरे से बहुत गहरे रूप में जुड़ते हैं, यद्यपि इसे प्यार की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इस मुलाकात के समय शेखर की उम्र लगभग चार वर्ष की और शशि की तीन वर्ष की है। इस मुलाकात के बाद अगले दस वर्षों तक शेखर और शशि की मुलाकात नहीं होती और इस बीच शेखर कई दूसरी लड़कियों के सम्पर्क में आता है। उसके सम्पर्क में आनेवाली अपने परिवार के बाहर की पहली लड़की प्रतिभा है जिससे वह किसी आन्तरिक स्तर पर नहीं जुड़ पाता। इसके बाद वयःसन्धि की दहलीज पर पाँव रखते ही उसका परिचय शारदा से होता है। वस्तुतः शेखर की वयःसन्धि की काम-भावना का, जिसे शुद्ध प्यार कहते हैं, वास्तविक आलम्बन शारदा ही बनती है। वह शारदा को सहज भाव से प्यार करने लगता है, जिसका अंकन उपन्यासकार ने अत्यन्त प्रौढ़ और कलात्मक रूप में किया है। हिन्दी के किसी अन्य उपन्यास में कैशोर प्रेम का इतना यथार्थ और मार्मिक चित्रण देखने को नहीं मिलता।

जिस समय शेखर शारदा के प्रेम में अपनी समूची चेतना के साथ डूबा हुआ है, उसी समय शशि से उसकी दूसरी मुलाकात उसके घर पर होती है। शेखर मैट्रिक की परीक्षा देने के निमित्त अपनी मौसी के घर रह रहा है और शशि उसे खाना आदि देती है। वे दोनों एक-दूसरे के लिए 'भाई जी' और 'बहन जी' हैं। चूँकि शेखर की चेतना में शारदा पूरी तरह से समाई हुई है, अतः किसी दूसरी लड़की का ध्यान या तो उसे आता ही नहीं या आता है तो वह उसे शीघ्र निकाल बाहर करता है और अपने को कोसता है। यद्यपि धीरे-धीरे शशि और शेखर के सम्बन्ध में अन्तरंगता बढ़ती है, पर वह परिचित भाई-बहन के प्रेम की सीमा में ही रहता है।

दक्षिण लौटने पर शेखर पाता है कि शारदा अपने माता-पिता के साथ स्थान छोड़कर

चली गयी है, उसकी वयःसन्धि का ज्वार समाप्त हो जाता है। प्रारंभिक किशोरावस्था में शेखर समलैंगिक प्रेम के ज्वार से भी गुजरता है। मद्रास में कॉलेज में पढ़ते हुए, कुमार से शेखर का प्रेम इसी मनोवैज्ञानिक स्थिति का उदाहरण है। अज्ञेय ने कुमार के प्रति शेखर के प्रेम का बड़ा ही संयत, पर यथार्थ चित्रण किया है। ठीक ऐसा ही चित्रण हमें रोम्याँ रोलाँ के 'ज्याँ क्रिस्तोफ' में मिलता है। ज्याँ क्रिस्तोफ और ओतो के समलैंगिक प्रेम के रूप में अज्ञेय पर रोम्याँ रोलाँ का प्रभाव निर्विवाद है।

इन प्रेम प्रसंगों के अतिरिक्त शेखर के कामभाव की अभिव्यक्ति और कई छोटे-मोटे कार्यव्यापारों के रूप में होती है, जिनका यहाँ विवरण देना संगत नहीं है। इतना जरूर कहा जा सकता है कि यह सारा-का-सारा विवरण मनोवैज्ञानिक यथार्थ से पूर्ण है।

शशि के प्रति शेखर का प्रेम भाई-बहन के सामान्य प्रेम से कुछ विशिष्ट है। उसमें थोड़ी दूरी भी है, और आयासलब्धता भी, जो भाई-बहन के प्रेम में नहीं होती। वैसे सम्बन्ध की दृष्टि से शशि विद्यावती की लड़की है, जो शेखर की माँ की बहिन लगती है। इस नाते वह शेखर की बहन है। शशि और शेखर दोनों बचपन से ही एक-दूसरे को भाई-बहन के रूप में जानते हैं, यद्यपि भाई-बहन की तरह दोनों साथ नहीं रहते। जब उनका प्रथम परिचय होता है तो शेखर शशि के प्रति असहिष्णु भी है और नहाते वक्त लोटे से उसका सिर भी फोड़ देता है। पर उस छोटी-सी अवस्था में ही शशि उसके प्रति जो प्रेम व्यक्त करती है, वह उद्धत शेखर को सदा के लिए उससे जोड़ देता है। इसके बाद शेखर और शशि जानते तो हैं एक दूसरे को भाई-बहन के रूप में ही, और यह जानना उनके सम्बन्ध को एक विशेष रूप भी देता है, पर आन्तरिक रूप में उनका प्रेम भाई-बहन के सामान्य प्रेम से निरन्तर विशिष्ट बनता जाता है।

इसके कुछ दिन बाद शेखर को शशि का पत्र मिलता है जिसमें वह अपना विवाह तय हो जाने की सूचना देती है। शशि विवाह नहीं करना चाहती। पर जिस समाज में वह रहती है और उसकी विधवा माँ पर जो सामाजिक दबाव है उसके कारण उसके लिए कोई फैसला करना कठिन हो रहा है। वह शेखर से सलाह माँगती है। शेखर यह चिट्ठी पाकर उद्विग्न हो उठता है। वह बहुत सोचता है, पर समस्या का कोई समाधान नहीं मिलता। शशि की अनिच्छा के बावजूद उसका विवाह किसी से कर दिया जाय, यह शेखर को असह्य है, पर सामाजिक दबाव, परम्परा, स्त्रियों के सम्बन्ध में लोगों का दृष्टिकोण और माँ की असहायता; इन सबका क्या समाधान है ? शेखर सोचते-सोचते बेचैन हो उठता है, उसका मानसिक तनाव बढ़ जाता है।

पाठक के सामने प्रश्न उठता है कि आखिर शशि क्यों विवाह नहीं करना चाहती और शेखर क्यों शशि की अनिच्छा जानकर इतना उद्विग्न हो उठता है। यद्यपि इस सारी उद्विग्नता में भी शेखर शशि को बहन के रूप में ही देखता है पर उस उद्विग्नता के पीछे छिपा अवचेतन का उत्पात स्पष्ट है। शशि के भी विवाह के लिए अप्रस्तुत होने के मूल में उसके अवचेतन में विद्यमान शेखर के लिए प्रेम ही प्रतीत होता है।

शशि अपनी सम्पूर्ण अनिच्छा के बावजूद विवाह के प्रति तटस्थता का भाव अपना लेती है जिसे उसकी स्वीकृति मान लिया जाता है। शशि का दाम्पत्य जीवन सुखमय नहीं होता, शायद हो भी नहीं सकता था, उसकी सारी कर्तव्य-परायणता, चारित्रिक ईमानदारी और पतिनिष्ठा के बावजूद। जेल में ही वह शेखर को लिखती है कि वह बहुत कष्ट में है, और चाहती है कि शीघ्र उसे जीवन से छुटकारा मिल जाए। जेल से छूटने के बाद शेखर शशि से मिलता है और उसे

समझने में देर नहीं लगती कि उसका वैवाहिक जीवन सुखमय नहीं है, वह तिल-तिल करके जल रही है। उसका पति रामेश्वर उस पर विश्वास नहीं करता।

एक दिन शेखर के यहाँ से अपने पतिगृह पहुँचकर शशि तिरस्कृत ही नहीं होती, पति रामेश्वर द्वारा सांघातिक प्रहार के साथ घर से निकाल भी दी जाती है। तिरस्कृता शशि शेखर के ही पास लौटती है। शेखर एक बार रामेश्वर के घर भी जाता है, पर उसे भी वहाँ अपमान ही हाथ लगता है। इसके बाद इसके सिवा कोई दूसरा चारा नहीं रहता कि शशि शेखर के साथ रहे। शेखर उसे अपने पास रख लेता है।

शशि को देखने के लिए उसकी माँ विद्यावती आती है। डॉक्टर शशि को देखता है। डॉक्टर बताता है कि शशि का गुर्दा फट गया है और 'असाध्य' है। 'विश्राम और सहनशक्ति, हिम्मत, मुख्यतया हिम्मत' और कुछ दवाएँ निर्धारित कर डॉक्टर उन्हें वापस भेजता है।

विद्यावती शशि और शेखर के साथ दो-चार दिन रहकर और शशि को शेखर को सौंपकर वापस लौट जाती है। अज्ञेय ने इस प्रसंग के निर्माण में अपनी अद्‌भुत कलात्मक क्षमता का परिचय दिया है।

यहाँ से शशि और शेखर की दिनचर्या नये ढंग से शुरू होती है। शशि तो बीमार है अतः शेखर खुद ही घर के सब काम करता है और शशि की परिचर्या भी। शशि उसे लिखने के लिए उत्प्रेरित करती रहती है।

शशि और शेखर समाज द्वारा परित्यक्त हैं। पड़ोसी अपने बच्चों को शेखर के पास जाने से रोकते हैं और यदि वे सहज बाल-स्वभाववश उनके पास चले जाते हैं तो मार खाते हैं। बाहर भी शेखर का अपमान होता है। प्रकाशक उसका लिखा इसलिए भी स्वीकार नहीं करते कि वह समाज में बदनाम व्यक्ति है। गृहस्थी चलाने के लिए शेखर के पास कुछ नहीं है। विवश शेखर को अपनी पुस्तक 'हमारा समाज' की पांडुलिपि एक प्रकाशक को केवल साठ रुपये में बेचनी पड़ती है।

और इसी मनःस्थिति में शेखर आतंकवादियों के सम्पर्क में आता है। वह शशि के साथ दल द्वारा प्रदत्त नये घर में आ जाता है। भोजन की व्यवस्था हो जाती है। शेखर गुप्त आन्दोलन के फैले हुए जाल में अधिकाधिक उलझता जाता है और शशि भीतर से रुग्ण होने पर भी पूरी तरह से उसका साथ देती है। दल के कार्यक्रमों में भी वह हिस्सा लेने लगती है। वह छोटी-बड़ी सभाओं तक में जाने लगती है और एक सभा में तो वह भाषण तक देती है। इस सभा में बोलते-बोलते शशि उत्तेजित हो जाती है, सम्भवतः कुछ लोग, जो उसके अतीत से परिचित हैं, उसका उपहास करते हैं। शेखर शशि को घर लाता है और वह उस उत्तेजना और थकान के कारण ज्वरग्रस्त हो जाती है।

इसके बाद शेखर को पुलिस की नजरों से बचे रहने के लिए एहतियात के तौर पर शशि के साथ दिल्ली आना पड़ता है।

दिल्ली में शशि-शेखर की गृहस्थी चल निकलती है। शेखर शशि की परिचर्या को ही अपना दायित्व मानता है, पर शशि इससे सन्तुष्ट नहीं है। जिस उद्देश्य के लिए उसने आत्मदान किया है, वह पूरा नहीं हो रहा है। शेखर का लिखना बन्द है और शशि इस स्थिति से दुखी है। एक ऐसी ही मनःस्थिति में जब शशि और शेखर इसी प्रसंग में बातें कर रहे हैं, शेखर तीव्र संवेदना के क्षण में 'हठात् आगे बढ़कर केशों और त्वचा के संगम-स्थल पर शशि का माथा

चूम लेता है और फिर साँस के से स्पर्श से उसके होंठ—।' शशि स्तब्ध रह जाती है।[1]

शशि और शेखर के सम्बन्ध का यह बिल्कुल नया (यद्यपि पूर्णतः अप्रत्याशित नहीं) मोड़ है। भीतर से शशि और शेखर एक दूसरे को प्यार ही करते हैं, भाई-बहन का सम्बन्ध तो उनके परिवेश ने उन पर डाल दिया है और चेतन धरातल पर वे उसे स्वीकार भी कर चुके हैं। पर जब वे अपने परिवेश से पूर्णतः कट जाते हैं, और सर्वथा नये अपरिचित परिवेश में आ जाते हैं तो उनका मौलिक प्रेम-सम्बन्ध अवचेतन की दीवार तोड़कर ऊपर आ जाता है। शेखर का शशि को चूमना इसी स्थिति का द्योतक है।

शेखर और शशि के प्रेम को लेकर हिन्दी आलोचकों में, किसी समय, तीखी प्रतिक्रिया का भाव रहा। बिना इस सम्बन्ध की गहराई में प्रवेश किए, मैं कहूँगा, बिना इसे समझे, आलोचकों ने इसे 'अनैतिक', 'अश्लील' आदि की संज्ञा दे डाली। इसका आधार यह था कि शशि और शेखर मौसेरे भाई-बहन हैं और भाई-बहन के बीच प्रेमी-प्रेमिका का प्रेम दिखाना अनैतिक है, अश्लील है। वस्तुतः यह निर्णय बहुत ही सतही दृष्टि का परिचायक है। नैतिकता की दृष्टि से ही देखें तो किसी भी विवेकशील पाठक को यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि नैतिकता के मानदंड काल और परिस्थिति सापेक्ष हैं। शेखर और शशि यदि मौसेरे भाई-बहन हैं तो भी उनका प्रेम जिन परिस्थितियों में, जिस पीड़ा और चोट की मनःस्थिति में, उपजता है, वह अनैतिक नहीं लगता। ध्यान देने की बात है कि अपने तीव्रतम रूप में होने पर भी यह प्रेम वासना से सर्वथा रहित है। शेखर का शशि को चूमना किसी कामुक प्रेमी के वासनादग्ध चुम्बन से सर्वथा भिन्न है। इस चुम्बन में गहरा दर्द, विश्वास, आत्मदान, आश्वस्ति का भाव है। शेखर के प्रति शशि के प्यार में बहन, माँ, सखि, प्रेमिका, सबका प्रेम भाव अपनी तीव्रतम अवस्था में मिला हुआ है। वासना उसमें कहीं नहीं है। कहीं भी संयम न शशि के हाथ से छूटता है न शेखर के हाथ से। यह भी ध्यातव्य है कि जब शेखर शशि को चूमता है तब वह मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही है। इस स्थिति के चुम्बन में वासना की कल्पना करना और उसे अनैतिक या अश्लील मानना संगत नहीं है।

शशि और शेखर के सम्बन्ध पर विचार करते समय आलोचकों का ध्यान एक बहुत मोटी बात की ओर नहीं गया है। शशि और शेखर कैसे मौसेरे भाई-बहन हैं ? क्या शेखर की माँ और विद्यावती सगी बहनें हैं ? ऐसा उपन्यास में कहीं भी संकेतित नहीं है। एक जगह कहा गया है : "शशि की माँ, विद्यावती शेखर की माँ की बहन लगती थी।"[2] एक दूसरे स्थान पर विद्यावती (शशि की माँ) शेखर से कहती है—"लोग मुझे कहा करते थे, पर मैंने बराबर सबको यही उत्तर दिया है कि इन दोनों की एक धमनी है—मैंने तुम्हें कभी अलग नहीं माना, शेखर चाहे लोकाचार की दृष्टि से हमारा रिश्ता न कुछ के बराबर है।"[3] सच पूछें तो लोकाचार की दृष्टि से कोई निकट का रिश्ता न होने के कारण ही रामेश्वर (शशि का पति) शेखर और शशि के सम्बन्धों को सन्देह की नजर से देखता है। इस स्थिति में यह संगत नहीं लगता कि पहले तो शेखर-शशि को भाई-बहन मान लिया जाए और फिर उनके प्रेम-सम्बन्ध की आलोचना की जाए। मुझे लगता है कि उनका प्रेम-सम्बन्ध ही सच्चा और भाई-बहन वाला सम्बन्ध ही आरोपित है। तीन-चार वर्ष की अवस्था में जब शशि और शेखर की पहली भेंट होती है और शशि शेखर को मार खाने

1. शेखर : एक जीवनी, पहला भाग, पृ० 218
2. वही दूसरू भाग, पृ० 216
3. वही पहला भाग, पृ० 76

से बचाने के लिए झूठ बोलती है तभी से उनका प्रेम और शशि का आत्मदान शुरू होता है। यह अयत्लज नैसर्गिक भाव है जो शशि और शेखर के बीच अंकुरित होता है। प्रकृति ने शेखर और शशि को भाई-बहन बनाकर नहीं, प्रेमी-प्रेमिका बनाकर ही भेजा है। यह तो उनके माँ-बाप हैं जो उन पर भाई-बहन का सम्बन्ध लाद देते हैं, और शशि-शेखर भी चूँकि तब प्रेम को कोई नाम नहीं देना जानते, प्रेम की 'कोटियों' का ज्ञान उन्हें नहीं है और माँ-बाप या परिवेश के द्वारा दिया हुआ ज्ञान ही उनकी एकमात्र पूँजी है, इसलिए वे अपने को भाई-बहन मानकर ही एक दूसरे से भावनात्मक रूप से जुड़े रहते हैं। शेखर जब अपनी वयःसन्धि (कामात्मक प्रौढ़ता) की अवस्था में पहुँचता है तो उसका सम्बन्ध शारदा से होता है और शशि उस वृत्त में नहीं आती, शेखर जानबूझकर शशि को उस वृत्त में नहीं आने देता। उनकी मुलाकात जरूर होती है (एक ही बार जब शेखर पंजाब में परीक्षा देने गया है) पर उस समय शेखर शारदा के प्रेम में डूबा हुआ है और शशि से आत्मीयता और निकटता का अनुभव करता हुआ भी उसे अपनी चेतना का अंग नहीं बनने देता। और शशि ? उपन्यासकार ने शशि को शेखर के प्रति भावनाओं का अंकन नहीं किया है, पर उसके प्रत्येक व्यवहार में शेखर के प्रति गंभीर, शांत, स्निग्ध प्रेम की झलक देखी जा सकती है। शशि एक परम्परावादी ब्राह्मण परिवार की लड़की है और माँ-बाप ने उसे शेखर के प्रति 'भ्रातृ-प्रेम' से बाँध दिया है। उसके लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह शेखर के प्रति अपने गंभीर प्रेम को 'भाई के प्रति प्रेम' का नाम दे दे। इस प्रकार समाज ही शशि-शेखर के प्रेम को एक गलत नाम देकर दोनों को एक दूसरे से स्वाभाविक प्रेम में बँधने नहीं देता। मैं तो मानता हूँ कि एक सर्वथा झूठा भाव, मिथ्या सम्बन्ध शशि और शेखर की चेतना पर मढ़ दिया जाता है, अन्यथा उन दोनों के विवाह में भी हिन्दू नैतिक विधान का खंडन नहीं होता।

वस्तुतः शशि और शेखर का सम्बन्ध जिस रूप में प्रस्तुत हुआ है, उसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता, वह 'स्वस्थ संयत सम्बन्धातीत सम्बन्ध है, जिसके लिए समाज अब तक कोई नाम गढ़ने में समर्थ नहीं हो पाया है। सच पूछें तो शशि-शेखर का सम्बन्ध समाज द्वारा निर्धारित प्रेम-सम्बन्ध को गहरी चुनौती है। वे समाज द्वारा निर्धारित सम्बन्ध-मर्यादाओं के शिकार तो होते हैं, पर ज्योंही उन्हें स्थिति का सही बोध होता है वे उस जड़ सीमा-मर्यादा को चुनौती देते हैं। समाज द्वारा निर्धारित मर्यादाएँ, विधि-विधान-आचार संहिताएँ शाश्वत नहीं होतीं। अज्ञेय ने समाज-निर्धारित, शास्त्रसम्मत, सम्बन्ध-मर्यादाओं के नीचे पीड़ा भोगते मनुष्य की दर्द गाथा और उनसे उसकी मुक्ति की छटपटाहट की कहानी कही है। उन्होंने शशि और शेखर की कहानी के माध्यम से एक ऐसे मानवीय, निसर्गसिद्ध सम्बन्ध की खोज की है जो किसी अन्धविश्वास या जड़ मर्यादा की देन न होकर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सहज रूप से उभरा है।

अज्ञेय की एक और विशेषता यह है कि आवेश में कलात्मक समाज की शास्त्रनिष्ठ जड़ता को चुनौती देने के आवेश में कलात्मक संयम को हाथ से जाने नहीं दिया है। शशि और शेखर का सम्बन्ध कहीं भी उद्दाम वासनाजन्य रतिक्रीड़ा के रूप में चित्रित नहीं हुआ है। यह सम्बन्ध गहरी भावना के धरातल पर अंकित है, फिर भी वह छायावादी प्रेम की तरह हवाई और अयथार्थ नहीं है। उपन्यासकार ने बड़ी कुशलता से एक ऐसे परिवेश का निर्माण किया है, जिसमें प्रेम का यही रूप सम्भव हो सकता है।

इस प्रसंग में यह प्रश्न स्वाभाविक हो सकता है कि शेखर के क्रांतिकारी रूप और शेखर के प्रेमी रूप—इन दोनों में कौन ज्यादा सही, यथार्थ और प्रभावशाली है। उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि शेखर के क्रांतिकारी रूप से उसका प्रेमी रूप (या कि शशि का प्रेयसी रूप)

पाठक को अधिक आश्वस्त करता है। अज्ञेय यद्यपि स्वयं क्रांतिकारी रहे हैं, पर बहुत निष्ठावान क्रांतिकारी नहीं, और सम्भवतः इसी कारण शेखर का यह रूप हमें बहुत प्रभावित नहीं करता।

'शेखर : एक जीवनी' के वस्तु विवेचन के प्रसंग में हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर भी जाना चाहिए कि यद्यपि 'शेखर' ही उपन्यास का सम्पूर्ण विषय है पर उपन्यासकार ने शेखर के परिवेश का भी बहुत यथार्थ रूप में चित्रण किया है और प्रकारान्तर से वह भी उपन्यास की वस्तु बन गया है। उपन्यास (प्रथम भाग) में शेखर के परिवार, स्कूल, पड़ोस, लखनऊ की बाढ़, प्रथम महायुद्ध, स्वाधीनता आन्दोलन, मद्रास के कॉलेज जीवन तथा केरल की जिन्दगी के जो चित्र उभरते हैं वे बहुत ही साफ, यथार्थ और प्रभावशाली हैं। उपन्यास के दूसरे भाग में लाहौर के कॉलेज परिवेश, काँग्रेस अधिवेशन, जेल-जीवन, प्रकाशकों की दुनिया, लाहौर के सामाजिक जीवन, गुप्त क्रांतिकारियों की कार्य-प्रणाली आदि के चित्र प्रस्तुत किये गए हैं जो उपन्यास को 'एक व्यक्ति का निजी दस्तावेज' मात्र नहीं बनने देते। जैसा अज्ञेय ने उपन्यास की भूमिका में लिखा है : 'शेखर निःसन्देह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज है, ...यद्यपि वह साथ ही उस व्यक्ति के युग संघर्ष का प्रतिबिम्ब भी है।...मेरा आग्रह है कि उसमें मेरा समाज और मेरा युग बोलता है कि वह मेरे और शेखर के युग का प्रतीक है।" उपन्यासकार ने शेखर के परिवेश और युग का, जिससे उसे संघर्ष करना पड़ता है, बहुत ही यथार्थ और सजीव चित्रण किया है।

शिल्प

औपन्यासिक शिल्प की समस्या अन्य ललितकलाओं वास्तु, मूर्ति, चित्र आदि की तुलना में अपेक्षाकृत जटिल है। उपन्यासकार शब्दों के माध्यम से एक कल्पनाजगत् की सृष्टि करता है, यह औपन्यासिक संसार वास्तु, मूर्ति और चित्रकला की तरह आँखों का प्रत्यक्ष विषय नहीं बनता और न ही हमारे मानसपटल पर सम्पूर्ण रूप में एक साथ अंकित होता है। हमारी आँखों के सामने तो उपन्यास की पुस्तक मात्र होती है और जैसे-जैसे हम पृष्ठ उलटते हैं वैसे-वैसे उपन्यास की दुनिया, क्रम-क्रम से उद्घाटित होती है। उपन्यास को हम किसी एकल (सिंगिल) वस्तु के रूप में नहीं, वरन मनःप्रभावों के प्रवाह या शृंखला रूप में ग्रहण करते हैं। यह मानो एक जुलूस है जो हमारे मन की फिल्म पर अपना चित्र अंकित करता हुआ गुजर जाता है। इस प्रवाह और गति को, पात्रों और दृश्यों की इस शृंखला को, जिसे हमें एक-एक कर, एक निश्चित क्रम में, ग्रहण करना पड़ता है, एक स्थिर 'फार्म' के रूप में, मूर्ति के आकार की तरह, कल्पित करना कठिन है। उपन्यास एक साकार वस्तु की अपेक्षा एक प्रक्रिया, एक अनुभव मात्र है। प्रायः यह यात्रा इतनी लम्बी, टेढ़ी, भूलभुलैया वाली और अग्रसारी-पश्चगामी गतिविधियों से भरी होती है कि अन्तिम मुकाम पर पहुँचकर भी उसे सम्पूर्ण रूप में, एक चित्र के रूप में, प्रत्यास्मृत करना कठिन होता है।

अज्ञेय ने अपने उपन्यास के विषय को रोम्याँ रोलाँ के 'ज्याँ क्रिस्तॉफ' के विषय के समान बतलाया है, पर अपनी 'टेकनीक' को उससे भिन्न कहा है। पर यह विषय की समानता और 'टेकनीक' का फर्क इतने सरल रूप में अभिज्ञेय नहीं हो सकता। रोम्याँ रोलाँ अपने उपन्यास में ज्याँ क्रिस्तोफ का व्यक्ति-चित्र प्रस्तुत अवश्य करता है, पर उसका उद्देश्य जर्मनी और फ्रांस के सांस्कृतिक जीवन का बहुरंगी चित्र अंकित करना भी है। इस बृहद्काय उपन्यास में क्रिस्तोफ भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना वह समाज जिससे वह जूझता है। इस विषय के चित्रण के लिए रोम्याँ रोलाँ वही शिल्प अपना सकता था, जो हमें उपन्यास में देखने को मिलता है। पर

अज्ञेय का विषय सीमित और शेखर में केन्द्रित है। यों उपन्यास में पात्र अनेक हैं—उनकी संख्या सौ से ऊपर है—पर उन सबकी अवस्थिति शेखर के चरित्र को लेकर ही है। शेखर स्वयं उपन्यास का सम्पूर्ण विषय है, कोई अन्य व्यक्ति या व्यक्ति समूह नहीं। उसके माता-पिता, शशि-शारदा, सब पुस्तक में शेखर के कारण ही हैं। वे उसके चारों ओर अवस्थित हैं और उसके चरित्र को रूप और दिशा देते हैं, पर स्वयं में, विषय की दृष्टि से, उनका कोई महत्त्व नहीं है। ऐसी स्थिति में सरल और प्रचलित आत्मकथात्मक प्रविधि की अपर्याप्तता स्वयं सिद्ध है। जिस वर्णन या चित्रित मनःप्रभाव को नाटकीयता प्रदान करने के लिए आत्मकथात्मक प्रविधि का प्रयोग किया जाता है, वह 'शेखर : एक जीवनी' का विषय ही नहीं है। अज्ञेय इस कला-समस्या से अवगत हैं। इसीलिए उन्होंने उपन्यास के पात्र शेखर को अपनी कहानी के वर्णनकर्त्ता के रूप में पेश नहीं किया है। यद्यपि समूची कहानी हमें शेखर के माध्यम से ही प्राप्त होती है—उपन्यासकार पुस्तक में भूलकर भी नहीं आता—पर वह वर्णित मनःप्रभावों के चित्ररूप में नहीं, नाटक रूप में प्राप्त होती हैं। यहाँ मस्तिष्क की नाट्यशाला में नाटक भर दिया गया है। पुस्तक आरम्भ करने के साथ ही नाटक शुरू हो जाता है। एक मस्तिष्क अपनी प्रतिक्रियाओं के साथ हमारे सामने है। स्वयं शेखर अपना परिचय देने के लिए भी उसके बाद ही आता है और अपना परिचय भी वह कितना कम देता है। वस्तुतः वह पाठक को एक अवलोकन-बिन्दु प्रदान करने मात्र के लिए सामने आता है: "मैं अपने जीवन का प्रत्यवलोकन कर रहा हूँ, अपने अतीत जीवन को दुबारा जी रहा हूँ। मैं जो सदा आगे ही देखता रहा अपनी जीवनयात्रा के अन्तिम पड़ाव पर पहुँचकर पीछे देख रहा हूँ कि मैं कहाँ से चलकर किधर-किधर भूल-भटककर कैसे-कैसे विचित्र अनुभव प्राप्त करके यहाँ तक आया हूँ।...अब मैं अधूरा हूँ पर मुझमें कुछ भी न्यूनता नहीं है, अपूर्ण हूँ, पर मेरी सम्पूर्णता के लिए कुछ भी जोड़ने को स्थान नहीं है। सिवाय इस प्रत्यवलोकन के। शायद, जीवन पथ के अन्तिम पड़ाव का पाथेय ही यही है, क्योंकि मुझे इससे, और इस मात्र से, तृप्ति मिलती है"...[1]

इस संक्षिप्त भूमिका के बाद शेखर एक-एक कर अपने अतीत जीवन की स्मृतियों को दोबारा भोगता है। पाठक से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। पाठक को भी अवलोकन बिन्दु की प्राप्ति हो जाती है और उसे कथा कहने वाले पात्र के वर्णन की जरूरत नहीं रह जाती। वह पात्र के मस्तिष्क में प्रवेश कर जाता है। शेखर के मस्तिष्क की रंगशाला का द्वार उसके लिए खुल जाता है, जहाँ अतीत की स्मृतियाँ दृश्यों के रूप में एक-एक कर प्रकट होती हैं। इन स्मृति दृश्यों में कोई क्रम, कोई व्यवस्था, कोई तारतम्य नहीं है : "जैसे मोतियों की माला टूट गयी हो, और बिखरे मोतियों को फिर एक बेतरतीब लड़ी में पिरो दिया जाए, उसी तरह मेरी स्मृतियों की तरतीब उलझ-सी गयी है।"[2] इन स्मृति दृश्यों में शेखर विभिन्न स्थानों और अवसरों पर कुछ पात्रों से वार्तालाप करता, कहीं अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता दिखाई पड़ता है।

पर 'प्रवेश' खंड में शेखर पाठकों से थोड़ा-बहुत सम्बन्ध बनाये रखता है। हम उसे अपने जीवन की व्याख्या और विश्लेषण ही नहीं, कई सामान्य विषयों पर, जैसे विद्रोही क्या हैं, कैसे बनते हैं, विद्रोह का वास्तविक स्वरूप क्या है, क्रांतिकारी की बनावट कैसी होती है आदि के सम्बन्ध में विस्तार के साथ विचार व्यक्त करते भी देखते हैं। 'प्रवेश' में शेखर वर्तमान में पाठक के सामने एकालाप करता है और इसी क्रम में अपने अतीत को जीने लगता है, जिसे उसके

1. शेखर : एक जीवनी, दूसरू भाग, पृ० 188
2. वही पहला भाग, पृ० 15-16

मस्तिष्क में बैठा हुआ पाठक दृश्यों के रूप में देखता है। इस प्रकार पाठक अतीत और वर्तमान के झूले में झूलता हुआ शेखर से अपना परिचय बढ़ाता जा रहा है। और तभी 'प्रवेश' के अन्त में पाठक पाता है कि शेखर अपनी कहानी 'कहना' नहीं, लिखना चाहता है। 'प्रवेश' में तो शेखर के जीवन की एक झलक मात्र मिलती है, एक पूर्वाभास, जिसे स्पष्ट और पूर्ण रूप में प्रस्तुत करने के लिए शेखर लेखनी का सहारा लेने का संकल्प करता है।

शेखर के सामने समस्या पैदा होती है कि वह अपनी 'जीवनी' किस रूप में लिखे ? वह सोचता है "कैसे लिखूँ ? अपनी कहानी में अपने व्यक्तित्व की पूरी इच्छाशक्ति डालकर, सब्जेक्टिव दृष्टि से विवेचना करते हुए, एक दर्द और आग की भरी ललकार दूँ, या अपने को अपनेपन से बाहर खींचकर एक बाह्य ऑब्जेक्टिव दृष्टि से अपने कर्मों की ओर उनके प्रेरणास्रोतों की परीक्षा लेते हुए एक शान्त, अनासक्त बौद्धिक सन्देश सुनाऊँ, या अपने जीवन को किसी नैसर्गिक शक्ति की दी हुई थाती समझकर एक ऋणी की भाँति, उसे लौटाते समय पूरा हिसाब चुकाते हुए, किसी भूलचूक के लिए सफाई देते हुए, एक ब्योरेवार क्षमाप्रार्थी बयान पेश करूँ ?—अपने व्यक्तित्व को 'मैं' समझूँ या 'वह' या 'तू' ?"[1]

और अन्ततः वह निर्णय करता है : "अतः जिसकी कहानी में निहित सन्देश को मैं प्रकट करूँगा वह 'वह' ही है। उसका नाम है शेखर। वह इस समय मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है। उसी प्रतीक्षा में वह अपना अपनापन व्यक्त किये जा रहा है और मैं उसके जीवन के सत्यों को पढ़कर, उनका निष्कर्ष निकालकर और शब्दबद्ध करके छोड़े जा रहा हूँ।"[2]

इसके बाद पाठक शेखर द्वारा लिखी गयी 'शेखर' की कहानी पढ़ने लगता है। उपन्यास का पाठक 'शेखर की जीवनी' का पाठक बन जाता है।

यहाँ हम इस बात पर विचार कर सकते हैं कि उपन्यास को इस प्रविधि का क्या लाभ मिलने की संभावना है ? पहली चीज कि अज्ञेय अपना उपन्यास 'चेतना प्रवाह' की प्रविधि में नहीं लिखना चाहते थे। 'चेतना प्रवाह' प्रविधि में लिखित मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का लक्ष्य मस्तिष्क में चेतनाधारा को उसकी मूल गत्यात्मक अवस्था में जहाँ अभी उसे तार्किक संगति प्राप्त नहीं हुई रहती, व्यक्त करना होता है इसकी दुनिया फैन्टेसी और दिवास्वप्न की दुनिया होती है। इस कारण ऐसे उपन्यासों की भाषा भी विशिष्ट प्रकार की अन्तरालाप (इन्टर्नल मोनोलॉग) की भाषा होती है, जो एक प्रकार का अभाषित प्रवचन है और भावों या विचारों को उनकी मूल अवस्था में, जिस रूप में वे मस्तिष्क में पैदा होते हैं—ज्वार, उफान या तरंगों के रूप में—उसी रूप में पुनः प्रस्तुत करता है। परिणामतः इसकी भाषा संकेतों और प्रतीकों की होती है, जो प्रायः अपने में ही पूर्ण होते हैं और बिना किसी सुसम्बद्ध वाक्य योजना के भी मस्तिष्क के भावों और विचारों को व्यंजित करने में समर्थ होते हैं। यदि अज्ञेय 'चेतना-प्रवाह' की प्रविधि अपनाते—जो बहुत सीमित रूप में 'प्रवेश' में अपनायी गयी है—तो उन्हें उपन्यास में सर्वत्र उसके कठिन शिल्प का निर्वाह करना पड़ता। पर न तो 'शेखर : एक जीवनी' के विषय को इस शिल्प प्रविधि की अपेक्षा थी, न अज्ञेय को कोई चमत्कार दिखाना था। अतः उससे एक तरफ बचाव के लिए और दूसरी तरफ स्वाभाविकता बनाए रखने के लिए उन्होंने उपन्यास को शेखर की स्वलिखित जीवनी के रूप में प्रस्तुत किया है। यह उल्लेखनीय है कि यदि उपन्यास का कोई पात्र ही उसका

1. शेखर : एक जीवनी, पहला भाग, पृ० 22
2. वही पहला भाग, पृ० 41-42

विषय है तो आत्मकथा की प्रविधि उसके लिए अपर्याप्त होती है। इसीलिए शेखर अपनी कहानी को सब्जेक्टिव दृष्टि से प्रस्तुत करने का विकल्प त्याग देता है। यदि शेखर अपनी कहानी वर्णन के रूप में लिखता तो उसका चरित्र प्रभावशाली रूप में सामने नहीं आता। अतः स्वयं को 'वह' के रूप में, अन्य पुरुष के रूप में प्रस्तुत कर उसने आत्मकथा की प्रविधि को नाटकीय प्रभाव से भर दिया है। पाठक को ज्यों ही यह जानकारी मिलती है कि शेखर अपनी जीवनी लिख रहा है, वह धीरे से उसके मस्तिष्क में अवस्थित हो जाता है, जो शब्दों के माध्यम से शनैः शनैः व्यक्त हो रहा है। यह मस्तिष्क कहीं चिन्तनरत दिखाई पड़ता है, कहीं व्याख्या, विश्लेषण और प्रतिक्रिया व्यक्त करता हुआ और कहीं उसमें अतीत का कोई दृश्य भरा होता है। चूँकि कहानी निरन्तर लिखी जा रही है—पाठक उसे इसी रूप में प्राप्त करता है—अतः शेखर का निरन्तर सक्रिय मस्तिष्क पाठक के समक्ष विद्यमान रहता है। यह मस्तिष्क सूत्रधार, व्याख्याता, अभिनेता और रंगमंच की भूमिकाएँ बारी-बारी से पूरी करता है।

जब यह सूत्रधार या व्याख्याता के रूप में 'शेखर' की कहानी कहता है, या उसके जीवन के किसी प्रसंग को लेकर अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता है अथवा उसके जीवन की घटनाओं का विश्लेषण करता है तो हम उसके साथ वर्तमान में होते हैं। यदि यह वर्णन, व्याख्या और विश्लेषण शेखर की जुबानी प्रस्तुत किया गया होता तो उसमें वह विश्वसनीयता और तटस्थता नहीं आ पायी होती जो 'शेखर : एक जीवनी' में दिखाई पड़ती है। इस प्रसंग में एक आपत्ति उठायी जाती है कि शेखर अपने बचपन की कुछ ऐसी बातें लिखता है जिन्हें उसने देखा नहीं है। इसी प्रकार बचपन की प्रतिक्रियाएँ अपने सभी ब्योरों के साथ यथावत् किसी को याद नहीं रहतीं, जबकि शेखर उनका ब्योरेवार अनुलेखन करता है। यह वर्णन यदि उपन्यासकार या उपन्यास के किसी दूसरे पात्र के माध्यम से आया होता तो खटकने वाली कोई बात न होती। अतः आत्मकथा की प्रविधि की अपर्याप्तता यहाँ प्रकट है। आत्मकथा की इस कमजोरी को दूर करने के लिए ही उपन्यासकार ने शिशु 'शेखर' को 'अन्य पुरुष' बना दिया है। स्वयं शेखर को अपने जन्म की घटना ज्यों की त्यों, स्मरण तो नहीं होगी, पर मस्तिष्क में जो उसकी छाप है, उसके आधार पर मृत्यु की प्रतीक्षा करता हुआ शेखर 'शिशु शेखर' का चित्र प्रस्तुत कर सकता है।

पर आत्मकथा प्रविधि की कमजोरी शिशु शेखर को 'अन्यपुरुष' बना देने के बावजूद दूर नहीं हो पायी है। इन प्रसंगों से गुजरते समय पाठक भूल ही जाता है कि वह शेखर द्वारा लिखित 'जीवनी' पढ़ रहा है। सर्वज्ञ स्वयं लेखक हो या उपन्यास का पात्र इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

पर इस प्रविधि की सार्थकता वहाँ निर्विवाद है, जहाँ शेखर अपनी स्मृतियों को जीवन्त दृश्यों के रूप में प्रस्तुत करता है। यह प्रभाव आत्मवर्णन के द्वारा नहीं पैदा किया जा सकता था। इन प्रसंगों को नाटकीय दृश्यों के रूप में भी इतने शक्तिशाली ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। 'शेखर : एक जीवनी' में असंख्य ऐसे दृश्य हैं जो शेखर के मस्तिष्क में पुनर्घटित हैं। जिस 'शेखर' की जीवनी फाँसी की प्रतीक्षा करता हुआ शेखर लिख रहा है उसके जीवन में ये प्रसंग इसी रूप में आये होंगे, जिस रूप में ये प्रस्तुत किये गये हैं, यह नामुमकिन है। हमें भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि शेखर अपनी 'जीवनी' मात्र नहीं लिख रहा है। 'जीवनी' में तो केवल वही बातें लिखी जाती हैं जो तथ्य होती हैं, जिनका साक्ष्य होता है। शेखर शशि की प्रेरणा से, उसकी इच्छा पूरी करने के लिए, एक 'कलावस्तु' गढ़ रहा है। वह उपन्यासकार है, ऐसा तो कहीं उल्लेख नहीं है, पर वह एक लेखक है। जब तक शशि जीवित रही, वह उसकी देखभाल और जीवन संघर्ष में इस प्रकार उलझा रहा कि उसका भोगा हुआ यथार्थ अनुभूति का

सच नहीं बन पाया। शशि के मरने के बाद चार-पाँच वर्षों तक उसकी जीवनचर्या किस ढंग की रही, यह हमें नहीं मालूम; पर शशि की इच्छा थी कि शेखर बड़ा लेखक बने, वह अपने अनुभव को कलावस्तु के रूप में ढालने में सफलता प्राप्त करे। शशि की इस इच्छापूर्ति के लिए ही वह 'जीवनी' लिख रहा है। कहने मांत्र को यह उसकी 'जीवनी' है; वस्तुतः यह एक ऐसे पात्र की कहानी है, जिससे वह अभिन्न तो है, पर यह ठीक 'जीवनी' है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह एक उपन्यास है, जिसे शेखर लिखता है। वह अपने जीवन को दोबारा जीता है और लिखता है। शेखर के जीवन के प्रसंग लेखक के मस्तिष्क में पुनः घटित होते हैं, जिन्हें दिखाने के लिए पाठक को शेखर के मस्तिष्क में अवस्थित करना आवश्यक था।

'शेखर : एक जीवनी' के शिल्प के सम्बन्ध में एक दूसरी आपत्ति यह उठती है कि जहाँ पहले भाग में, जिसमें शेखर की सत्रह वर्ष की उम्र तक की कहानी है, विभिन्न स्मृतियों से जुड़े प्रसंग छोटे-छोटे हैं और इसलिए विश्वसनीय हैं, वहाँ दूसरे भाग में लम्बे-लम्बे वार्तालाप हैं, स्थान-विशेष के ब्योरेवार वर्णन हैं, स्वयं अपना ही उस समय का चिन्तन है, अपने पिता की उनके मुख से सुनी दास्तान है। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं शेखर दूसरे पात्रों, जैसे शशि के साथ घटित बातें भी, जिनका वह प्रत्यक्ष साक्षी नहीं है, लिखता है। इस प्रकार के विवरण, वार्तालाप, चिन्तन और उपकथाएँ, दृश्यात्मक-परिदृश्यात्मक प्रविधि वाले उपन्यास के लिए तो ठीक हैं, पर प्रत्यक्षदर्शन प्रविधि में इनकी संगति नहीं दीखती। आत्मकथात्मक प्रविधि की अन्तर्निहित कमजोरी है जिसे दूर करने के लिए उपन्यासकार को विशेष रूप से सावधान रहना पड़ता है। अज्ञेय 'शेखर' के दूसरे भाग में निश्चय ही अपनी शिल्प प्रविधि के निर्वाह में चूक गये हैं। दूसरे भाग को पढ़ते समय पाठक यह अनुभव नहीं करता कि वह शेखर के मस्तिष्क में अभिनीत होते हुए दृश्यों का अवलोकन कर रहा है। यह एक परम्परागत ढंग का 'उपन्यास' बन गया है, जिसमें घटनाओं का अनुक्रम, वर्णन, संवाद, मार्मिक प्रसंग, उपकथाएँ आदि मिले-जुले रूप में रहते हैं। दूसरे भाग में शेखर अपने नायक की, जो वह खुद ही है कहानी 'कहने' लगता है। इस भाग में हम शेखर को अतीत से वर्तमान में आते हुए बहुत कम देखते हैं। वह अपने वर्तमान में कभी-कभी लौटता जरूर है पर जैसे शिल्प के निर्वाह मात्र के लिए।

'शेखर : एक जीवनी' के शिल्प के सम्बन्ध में एक दूसरी आपत्ति यह है कि 'जीवनी' को लिखने वाला शेखर फाँसी की प्रतीक्षा करने वाले शेखर से अपने को भिन्न मानकर कैसे चल सकता है। माना कि शेखर लेखक है और टी० एस० इलियट के कला सिद्धान्त का जीवन्त विग्रह है, पर अज्ञेय ने इन दोनों 'शेखरों' के बीच जो अन्तर करना चाहा है, वह जरूरत से ज्यादा महीन हो गया है। जहाँ तक शिशु शेखर को अन्य पुरुष के रूप में देखने की बात है, वहाँ तक तो ठीक है, पर ज्यों-ज्यों शेखर अपने सुदूर अतीत से निकटतर अतीत की ओर बढ़ता है, यह प्रविधि अपर्याप्त होने लगती है। इस बात पर आश्चर्य होना स्वाभाविक है कि तीसरे भाग में—जो प्रकाशित भले न हो पाया हो, पर शिल्प की दृष्टि से जिसे 'लिखित' रूप में पूरा होना ही चाहिए—जब कथा का शेखर फाँसी चढ़ने को होगा तब 'प्रवेश' का शेखर अपने को उससे भिन्न कैसे रख सका होगा।

मुझे लगता है कि जिस अवलोकन बिन्दु से 'लेखक' शेखर अपने जीवन का प्रत्यक्षदर्शन कर रहा है। उसके अनुरूप 'अन्य पुरुष' की प्रविधि प्रथम भाग में ठीक ही अपनायी गयी है और इस प्रविधि के माध्यम से सुदूर अतीत के प्रसंगों को प्रस्तुत करने तथा उनके आधार पर 'नियति के सूत्र' को पहचानने में उसे पूरी सफलता मिलती है; पर निकटतर अतीत के

प्रस्तुतीकरण में यह प्रविधि अपर्याप्त हो गयी है। इस प्रविधि की सार्थकता और स्वाभाविकता तब बनी रहती जब समूचा उपन्यास सर्वथा अनुक्रम रहित प्रसंगों के रूप में निर्मित होता और निकटतर अतीत को उसमें शामिल नहीं किया जाता। कोई जरूरी नहीं था कि उपन्यास के तीन भाग होते और यदि जीवनी को तीन भागों में लिखना था और प्रत्येक परवर्ती भाग के साथ शेखर को अपने निकटतर अतीत में आना था, तो उसके साथ 'जीवनी' के प्रस्तुतीकरण की प्रविधि में भी परिवर्तन जरूरी था। यह न करके एक ही प्रविधि से उपन्यास को बाँधकर अज्ञेय ने अपने विषय की संभावनाओं को जड़ित कर दिया है।

उपन्यास के शिल्प को न केवल अपने विषय के लिए सर्वाधिक उपयुक्त होना चाहिए वरन उसे स्वाभाविक और विश्वसनीय भी मालूम पड़ना चाहिए। 'शेखर : एक जीवनी' में फाँसी की प्रतीक्षा करता हुआ शेखर लगभग 500 पृष्ठों की 'जीवनी' लिख डालता है। (यदि तीसरा भाग भी उसने लिख लिया हो तो उसमें 250 पृष्ठ और जोड़ दिये जा सकते हैं।) एक प्रश्न पाठक के मन में उठ सकता है कि ये पाँच सौ या साढ़े सात सौ पृष्ठ कितने दिनों में लिखे जा सकते हैं ? क्या इतने दिनों तक किसी अभियुक्त को फाँसी की प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है ? यह प्रश्न भी उठ सकता है कि फाँसी की सजा पाये व्यक्ति की मनःस्थिति क्या ऐसी हो सकती है कि वह 'शेखर : एक जीवनी' जैसा उपन्यास मरने के पहले लिख जाए ? क्या फाँसी की सजा पाये व्यक्ति को कागज, कलम और लालटेन मिल जाती है ? ये प्रश्न इसलिए उठते हैं कि शेखर अपने जीवन का प्रत्यवलोकन लिखकर कर रहा है। अतीत का प्रत्यवलोकन ऐसे भी हो सकता था, अन्तरालाप की शैली में वह अपने चरित्र का विश्लेषण कर सकता था। तब आत्मकथा के 'लिखित' होने से जो असंगति पैदा हो गयी है, वह नहीं होती।

'शेखर : एक जीवनी' के शिल्प के सम्बन्ध में उठनेवाली इन आपत्तियों को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। फिर भी शिल्प प्रविधि की नवीनता और प्रयोग की दृष्टि से इस उपन्यास के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस उपन्यास में अज्ञेय ने शिल्प की एक नयी सम्भावना का द्वार खोला जो इसके पूर्व हिन्दी जगत् के लिए अपरिचित था। हिन्दी उपन्यास में प्रत्यग्दर्शन प्रणाली का प्रयोग इतने बड़े पैमाने पर और इतने जटिल रूप में इसके पहले नहीं हुआ था और यह भी बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा जा सकता है कि बाद में भी किसी उपन्यासकार ने इसका इससे अच्छा उपयोग नहीं किया है।

□□□

युगेश्वर

शेखर : एक जीवनी की भाषा

'शेखर : एक जीवनी' जीवनी उतनी नहीं है जितनी है आत्मकथा। इसलिये इसमें "घनीभूत वेदना" है। जो घनीभूत पीड़ा प्रसाद के "आँसू" की निर्मात्री थी। वहाँ भी दुर्दिन था, यहाँ भी दुर्दिन। फाँसी की प्रतीक्षारत रात। इसलिये इसमें अनासक्ति नहीं आसक्ति की गहराई है। भाषा और भाव दोनों सघन। अज्ञेय की अनासक्ति का मतलब है वे जीवन में कहीं पूर्ण आसक्त नहीं होते। द्रष्टा बने रहते हैं किन्तु 'द्रष्टा' नहीं 'दृष्टा' कहते हैं। र नही ऋ। वे ऋषि जैसे मंत्रद्रष्टा नहीं, भोग द्रष्टा हैं। भोगते हुए। भोग कर देखने वाले। 'द्रष्टा' में अनासक्ति आरम्भ से है। 'दृष्टा' की अनासक्ति बाद की है। शायद पूर्णतः कभी नहीं है।

इसे शेखर की "शेखी" समझ सकते हैं। शेखी ही द्रष्टा और 'दृष्टा' को अलग करती है। किंतु शेखी तो द्रष्टा और दृष्टा के सम्बन्ध में कही नहीं गयी है। शेखी यह कि पूरा उपन्यास केवल एक रात में देखा हुआ vision, दृष्टि और दृश्य है। दोनों को अलगाना कठिन है। काल विस्तार से महत्त्वपूर्ण है एक रात। रात से महत्त्वपूर्ण है क्षण। लेखक न केवल अंग्रेजी माध्यम से सोचता है बल्कि अंग्रेजी शब्द उसकी सुरक्षा भी करते हैं। कलाकार और भोक्ता की बात करना आसान है। शायद उसका संदर्भ भी दूसरा है। यहाँ यह स्पष्ट है कि लेखक और शेखर में अलगाव के कोई चिह्न नहीं हैं। अगर "तीव्रता" Intensity में भी अलगाव बना हो तो इन्टेन्सिटी की गहराई या घनत्व व्यर्थ है। फिर उसे "घनीभूत वेदना" कहना उचित नहीं। वेदना के ताप से द्रष्टा और दृश्य दोनों पिघल जाते हैं। अनासक्ति के उपासक गाँधी की आत्मकथा "सत्य के प्रयोग" है।अतः व्यक्तिपरक संगता में भी निःसंग है। किंतु शेखर की जीवनी न निःसंग है न अनासक्त। आसक्ति की निरंतरता नहीं है। किंतु व्यक्तित्व मोह चरम पर है। व्यक्तित्व मोह ने ही तो निःसंग बनाया है। यह एक कवि की रचना है। कवि रचित उपन्यास। कवि का गद्य। फलतः कविता का होना स्वाभाविक है। शेखर कविता में सोचता है। कविता में तर्क और समाधान करता है। कवि होने के नाते ही शेखर का लेखक दूसरे की कथा में इतना सरस, सघन और प्रवण है। ' "शेखर" में मेरापन कुछ अधिक है।' यह भी कविता में सोचने के कारण हुआ। जगह-जगह रूपक, उपमान एवं प्रतीकों के माध्यम से अपनी बात को पुष्ट करता है। स्थिति और घटना बन कर प्रभावान्विति पैदा करता है। पहले ही पृष्ठ पर। "उसमें साँप की आँखों-सा एक अत्यंत तुषारमय, किंतु अमोघ सम्मोहन होता है....एक सम्मोहन, एक निमंत्रण, जो कि प्रतिहिंसा के इस यंत्र को भी कवितामय बना देता है। यह यंत्र है फाँसी। साँप की आँखें फाँसी का उपमान है। इस उपमान में निराश निष्क्रिय नियति का अंधेरा नहीं। क्रांतिकारी जीवन की सक्रिय उजासभरी नियति है। "खुश रहो अहले

वतन" की प्रसन्न सक्रियता। इसीलिये सर्प के विष की थैली नहीं, आँखों की सम्मोहन चमक है। इसमें जीवन डूबता नहीं। सक्रिय संवेदनशील उजाला बनाए रहता है। फाँसी जितना सत्य या तथ्य है उतना ही प्रतीक भी। संपूर्ण जीवन एक फाँस है। फाँसी है। तथ्य फाँसी की बेला में जीवन की फाँसी का "प्रत्यवलोकन" होता है। घूमकर। लौटकर। पीछे मुड़कर देखते हैं। उस जीवन को। जिसमें बँधा। जिसके डोर के सहारे फाँसी के फंदे तक पहुँचे। कविता केवल कविता नहीं दर्शन है। "साँप की आँखें" बिम्ब हैं। स्याही से लिखा चित्र है। ऐसे अनेक चित्र हैं। इन चित्रों के साथ हैं "प्रत्यवलोकन" और "उपभोगेच्छा" जैसे निर्मित शब्द। किंतु इस प्रकार निर्मित शब्द शास्त्र नहीं। साहित्य रचना साहित्य का निर्माण करते हैं। "उसमें अपना उफान उतारने की कोशिश करने लगा...। यह उफान सामान्य उफान से भिन्न है। अपनी विशेष स्थिति में एक पूरी व्याकुल मनःस्थिति की अभिव्यक्ति करता है। "उफान उतारना" मुहावरा बन कर एक बड़ी कथा-रचना का संकेत देता है।

"शेखर" में इस प्रकार के अनेक शब्द प्रकाशदीप के समान जगह-जगह मार्ग-दर्शन ही नहीं करते बल्कि कथा को गतिशील और संवेद्य बनाते हैं। यह भारवाहक हैं जिनके कंधों पर कथा चलती है। इसलिये भी कि "शेखर" एक संस्कृत व्यक्ति की जीवनी है। यह व्यक्ति कुलीन और गरिमामय है। भटकना उसकी स्वच्छंदता है। किंतु कहीं भी वह साधारण नहीं है। उसका व्यक्ति ग्राम्य नहीं। नागर है। कुलीनता, प्रतिभा, नागरता, कविता के साथ जुड़ी है स्वच्छंदता। स्वच्छंदता आवारापन नहीं। बँधे बँधाए जीवन के विपरीत खुला तथा स्वभुक्त जीवन जगत् की खोज है। ऐसे में प्रायः उपन्यास सहज और लोक प्रचलित स्वाभाविक भाषा के चक्कर में भटक जाता है। किंतु अज्ञेय की विशेषता कहिए। वे कभी चालू, बाजारू और आम फहम भाषा के चक्कर में नहीं पड़ते। प्रचलित भाषाएँ पूर्व एवं पर-रचित होती हैं। अज्ञेय की भाषा स्वरचित है। अज्ञेय की भाषा को शास्त्रीय नहीं, कुलीन या संभ्रांत भाषा कहना चाहिए। अभिजन की भाषा। इसलिये कि "मैं किसी अत्यंत प्राचीन ग्रंथ का एक नया संशोधित, संवर्धित और सटीक सटिप्पण संस्करण हूँ।" संशोधित एवं संवर्धित क्लासिकता का संकेत देते हैं। "सच पूछो तो मैं इसका भी विश्वास नहीं करती।" "इसका" शेखर का पूरा व्यक्तित्व है। शेखर है। इसमें अविश्वास ही उसे विद्रोही बनाता है। उसके भीतर के विद्रोह को उभाड़ देता। उजागर कर देता है। "इसका" स्वयं में कुछ नहीं है। एक साधारण सर्वनाम। आया गया। किंतु यहाँ माँ ने "इसका"द्वारा शेखर के पूरे व्यक्तित्व को जिस ढंग से इंगित किया है इससे उस शब्द का महत्त्व बढ़ गया है। जिसका सहारा पा जीवन का, विद्रोही जीवन का जहाज चलता है।

कुछ शब्दों को स्वयं उपन्यासकार इन्वर्टेड कामा से लिखकर महत्त्व की ओर संकेत करता है। जहाँ तुम हो वहाँ "याद" शब्द को लाना पूजा को भ्रष्ट करने-सा है। उसे सामने लाने दो, जिसे मैं "कुछ" समझूँ।..."याद" नहीं करता, कभी "देखता" नहीं।..यह "अपील" थी। पिता ने कहा "अच्छा"। सिस्टर के शब्दों में "शरारत" की थी। "पढ़ाया" जाता है। वह "अनैतिक" कार्य करके भी उसके दाग से बचा रहता है, "पाप" करके भी पवित्र रहता है।...अपने व्यक्तित्व को "मैं" समझूँ या "वह" या "तू"? संसार का "आदर्श व्यक्ति" व्यक्ति नहीं है, एक टाइप" है। बालक को जब "पढ़ाया" जाता है। जब पाँच-सात पात्र इस प्रकार "भ्रष्ट" हो गए तब बालक को शरारत सूझी। इन्हें स्मृतियाँ कहना "स्मृति" के अर्थ को कुछ खींचना ही है। "आज क्या किया !" "लोटा लग गया।" "माँ" "हुँह"। "बहिन"उस जन्तु का नाम है, जो खेल में झगड़ा करे। एक सरस्वती उसके मन में एकाएक "सरस्वती" से "बहिन"और बहिन से "सरस" हो गई

थी। "नैतिक उद्देश्य"। "माँ की डाँट"। "भीतर"। "धुत्"। उस "कुछ" ने बाग घेर लिया है। यह "कुछ" पीछे रह गया है।

पूरी पुस्तक में इस प्रकार के शब्द एवं वाक्य हैं। ये इस बात का संकेत करते हैं कि लेखक सामान्य शब्दों को भी अपनी भावना में रंग कर विशिष्ट बनाता है। ऐसे शब्दों की विशिष्ट अर्थ छाया है। वह सामान्य अर्थों से संतुष्ट नहीं है। विशिष्ट अर्थ बनाने के लिये ही इन्वर्टेड कामा का प्रयोग करता है। ये शब्द व्यक्तिगत हैं। व्यक्ति हैं। विशिष्टता के कारण अनेक शब्द उपसर्ग लगाकर प्रयुक्त किए गए हैं। प्रगूढ़, प्रोज्ज्वल, प्रपीड़ित, प्रपीड़न, परिपूरक, प्रक्षेपण, उपभोगेच्छा, परिव्याप्त, परिव्यापक आदि में उपसर्ग अर्थ को विशिष्ट बनाते हैं। "अनस्वाभाविक" और "अनछूती" में "अ' के स्थान पर अन के प्रयोग का उद्देश्य भी यही है। अंग्रेजी सोच और हिन्दी प्रयोगों में एक तनाव भी है। उपसर्ग उस तनाव से बचने के लिये भी हैं। यह तनाव अंग्रेजी उद्धरण में और देखा जा सकता है। अंग्रेजी या दूसरी भी कविताओं के उद्धरण लेखक की मानसिकता को व्यक्त करते हैं। किन्तु उस मानसिकता को पकड़ना। उससे तादात्म्य पाठक के लिये संभव नहीं। पाठक केवल उद्धरण देखता है। जब कि ये उद्धरण लेखक मन में पूरी कविता का प्रसंग रखते हैं। क्योंकि उद्धरण अंश है। किसी अंश का। फिर उन्हें प्रस्तुत प्रसंग से जोड़ना। उतना जुड़ना जितना लेखक अपने विजन या भाव क्षणों में जुड़ा है। उसके मन मस्तिष्क में जो भाव-चित्र हैं। जो राग-विराग है। भाषागत इस तनाव के बावजूद उपन्यास क्यों प्रभावी है ?

शेखर का विद्रोह। उसका घुटना। प्रेम और लगाव की तलस्पर्शी धारा में निःसंगता के बावजूद एक निरंतर उदात्त सम्बन्ध है। निःसंग शेखर भागता-सा लगता है। किंतु अनेक लड़कियाँ उसे बाँधती हैं। वह स्वयं में उदासीन नहीं हो सकता। संगता आ ही जाती है। भागना। भागने के प्रति अति सावधानी में भी संग है। ऐसे समय में भाषा अत्यन्त गतिशील हो जाती है। "झरना बह रहा है शुभ्र, स्वच्छ, निर्मल।" यह शेखर का प्रेम प्रतीक है। "एक चट्टान के ऊपर चढ़कर शेखर आगे देखता है।...नीचे पहाड़ी झरना बह रहा है शुभ्र, स्वच्छ, निर्मल।" यही तो है व्यक्तित्व। ऊपर से चट्टान। किंतु भीतर लगाव का निर्मल स्रोत। लेखक ने स्पष्ट कहा है—"मैं इससे बचकर भागता हूँ। भागता आया हूँ।...कहाँ भागूँ ? क्यों भागूँ ?" भागना झूठ है। "झूठे, झूठे" मैं झूठ बोला था।...भूला था। भूल जान गया हूँ। "झूठे की पुनरुक्ति के साथ है भागने की पुनरुक्ति। ऐसी ही है—"दर्पोद्धत स्वर में कहा, नहीं है ईश्वर—नहीं है, नहीं है।" दर्पोद्धत स्वर कहकर बताया कि यह शेखर की आंतरिक चेतना नहीं है। क्योंकि उद्धत शब्द का अर्थ ही है। बाहर। पुनरुक्ति को अज्ञेय प्रायः तीन या अधिक बार प्रयोग करते हैं। क्षुद्र, क्षुद्र, क्षुद्र। दूसरा है—"शून्य, शून्य, शून्य। बल्कि शून्य से भी कम। "लोहा या सोना भी—एक चोट से नहीं बनता। उस पर कई चोटें होती हैं, चोट पर चोट, चोट पर चोट।" इस पुनरुक्ति में भावना के स्थान पर प्रक्रिया है। "होती" क्रिया-प्रक्रिया आदत को अभिव्यक्त करती है।

इस आदत के अतिरिक्त क्रोध, अवज्ञा और पीड़ा का अबाध प्रकाशन है। "नहीं, कहीं नहीं है वह अबाध, कहीं नहीं है छुटकारा, कहीं नहीं है मुक्ति ! न बुद्धिमत्ता में, न बेवकूफी में, न एकांत में, न साथ में, न कविता में, न नाटक में, न काम में, न निठल्लेपन में, न घृणा में, न प्यार में, उस विशाल, आततायी, उदार पिता के प्यार में भी नहीं...।" इनमें विरोधी शब्दों का साथ है। दोनों व्यर्थ हैं। बुद्धिमत्ता भी। बेवकूफी भी। "न" एवं "ये" की पुनरुक्ति में भी विरोध है। "न" अस्वीकार है। तो "में" स्थितिबोधक है। नहीं नहीं...में दृढ़ता ध्वनित है। एक "नहीं" अपूर्ण था कई नहीं भावावेग और दृढ़ता दोनों सूचित करते हैं। अबाध इच्छा की अबाध भाषा

है। बिल्कुल छूटी। "आततायी, उदार पिता के प्यार में विरोधाभास है। माली से कहता है "यह लो !और यह लो ! और यह लो ! आओ, बेशक आओ।"

इसी प्रकार भावाभिव्यक्ति के अनेक प्रयोग हैं—विमाता है, विमाता है, विमाता है। माँ को विमाता कहने का कारण है। माँ का शेखर के प्रति अविश्वास। "इसका" की चर्चा आ चुकी है। यह शब्द पृष्ठ 179 पर नौ बार आता है। इससे शेखर की द्वितीय चेतना खुल गयी। "मानो द्वैतीयिक चेतना से सुना"। इसी प्रकार के अविश्वास और ग्लानि के बीच "क्यों, क्यों, क्यों" की बौछार करता है।

ऐसा ही एक प्रसंग है प्रेम का। जब शेखर शारदा को प्यार करने के बारे में पूछता है। इसी प्रसंग में शरदा नाम करीब 20 बार आता है। लेखक की एक विशेषता और। शारदा तटवर्ती प्रदेश की लड़की है। शायद इसलिये उसके अस्वीकार की उपमा समुद्र से देता है। "समुद्र ने उसे स्वीकार नहीं किया था, समुद्र अपनी नीलिमा में सब कुछ अपना लेता है, उसने भी शेखर को अस्वीकार करके बाहर फेंक दिया था।" ऐसे लखनऊ का दौड़ता घोड़ा संगीत से उपमित हैं—"एक अत्यंत सुंदर घोड़ा तीव्र गति से दौड़ता हुआ उसके सामने से जाता है। उसकी गति में कहीं चेष्टा नहीं है, कहीं रुकावट नहीं है, मानों कहीं भी इच्छा की प्रेरणा ही नहीं है, वह स्वतः संपूर्ण, सुंदर, अच्छे संगीत की तरह ताल विशिष्ट एक गति है।" इस प्रकार के वर्णन अक्सर ही उपनिषदों में हैं। जहाँ गति और अगति। इच्छाहीनता और क्रिया एक साथ हैं। लेखक ऐसे में एक लय (Rhythm) पाता है। यह लय बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक है। शेखर क्षण को महत्त्व देने वाला व्यक्ति है। इसी से उसकी कोई अनुभूति दूसरी बार की नहीं है। "जो दो बार नहीं दीखती।" यह बारीकी उसके शब्द प्रयोग में भी है। उसके शब्द प्रयोग भी क्षण से जुड़े हैं। उस क्षण की अनुभूति के बिना वे निरर्थक हैं। "वह एक ही क्षण था काल की गति का एक अविभाज्य टुकड़ा, अनुभूति का एक झोंका, हृदय का एक ही स्पंदन..." इसमें एक द्रष्टव्य है। "अविभाज्य टुकड़ा" एवं "अनुभूति का एक झोंका" में विरोधाभास। यह मात्र इसलिये कि लेखक सामान्य नहीं असामान्य अनुभूतियाँ कहता है। टाइप की नहीं। व्यक्ति की। व्यक्ति और टाइप ये दोनों ही शब्द शेखर को और सभी पात्रों से अलग करते हैं। शेखर के कई भाई हैं। किन्तु वह "अकेला" है। उसकी सारी अनुभूतियाँ निजी हैं। अकेली हैं। अनुभूतियों की निजता के बावजूद उनमें एक समानता भी होती है। यह समानता ही टाइप बनती है। इस टाइप रहित जीवन की अभिव्यक्ति का दूसरा पक्ष है विशेष प्रयोग। विशेषण टाइप को वैयक्तिक बनाते हैं। अर्थ विस्तार का संकोच करते हैं। गाय टाइप है। लाल विशेषण से गाय का विस्तार संकुचित हो गया। किन्तु विशेषण उसकी विशेषता भी बताते हैं। लाल में संकोच और विशेषता दोनों हैं। किन्तु अज्ञेय, विशेषण प्रयोग शब्दार्थ को नितांत वैयक्तिक और विशिष्ट बनाने में करते हैं। जिससे क्षण की अनुभूति उजागर हो। अमधुर सत्य, समाधिस्थ जिज्ञासा, क्रियाहीन विस्मय, खिंची आह की तरह गर्म, मुरझाए फूल, निःस्वप्न नींद, लालिम फूल, प्रखर किंतु शीतल बौद्धिक घृणा, निष्कलंक पाप, करणीय पाप है घृणा, एक बिखरा हुआ शव, निविड़तम हताशा के क्षारपुंज, अनभ्यस्त नीरवता, साग्रह अवज्ञा, शब्दहीन स्वर, अनछूती भूमि, निष्प्राण स्वर, भूखों भूखा, निकम्मे हाथ, मीठी करुणा आदि। इन शब्दों के विशेषणों को ध्यान से देखिए। प्रायः ही विरोधाभास वाले हैं। क्योंकि उनसे ही क्षण की अनुभूतियाँ व्यक्त होती हैं। कोई-कोई सामान्य प्रयोग से अलगाने के लिये हैं। अमधुर सत्य कटु सत्य है। किन्तु कटु सत्य में अमधुर सत्य-सा अर्थ नहीं है। समाधि में जिज्ञासा का अभाव और विस्मय में क्रिया होनी चाहिए। खिंची आह की तरह गर्म एक बिम्ब बनाता है। मुरझाए फूल सामान्य हैं। किंतु यह उत्तेजनाहीन

प्रेम को अभिव्यक्त करता है। ऐसे ही दूसरे विशेषण एक खास जीवनदशा को व्यक्त करते हैं। ऐसा ही है नास्तिक मूर्तिपूजक।

कुछ विस्मयबोधक भी अपनी करामात दिखाते हैं—ओह। हुँह। अम्। हूँ। एँ। ऐं। तो तो। हू हू आँधी की आवाज है। रणनमूलक।

शेखर के नाम का आरम्भ अंग्रेजी (रोमन) एस अक्षर से होता है। शायद इसी से अंग्रेजी के एक अक्षर या हिन्दी "श" से उसका विशेष लगाव है। शारदा स्वयं श 'एस' है। उसका घर S जैसे पेड़ के पास है। संभव है एस सेक्स का एक अक्षर हो। सेक्स में तो दो स उच्चरित होते हैं। शेखर के जीवन में आनेवाली सभी लड़कियों के नाम (एक प्रतिभा को छोड़) "श" से आरम्भ होते हैं शारदा, सरस्वती (सरस) , शीला, शांति, शशि, सावित्री। शेखर का संग इनके साथ ही होता है। और तो और। शेखर के गुरु (गैस) में भी दो 'स' है। उसने हटाया भी तो 'जी'। 'एस' को रहने दिया। मतलब कि अहंवादी शेखर मजाक में भी 'एस' को ही प्रमुखता देता है। 'एस' ही शेखर है। वही उसकी श्री है। बंधनों के देश से मुक्त हो शेखर सुंदर देश, समुद्र, सूर्यास्त से सोने के टापू, सूत के वस्त्रवाली राजकन्या के सिरिस फूलों के महल में जाता है। छः "स"।

अज्ञेय ने व्यक्ति और टाइप में भेद किया है। अतः स्थान-स्थान पर टाइप शब्द व्यक्ति बनते हैं। इन्वर्टेड कामा वाले शब्द ऐसे ही हैं। उनके बारें में कहा जा चुका है। ये शब्द विचार बनाने के लिये हैं। छायावाद ने एक भावप्रवण, अलंकृत भाषा का विकास किया था। दूसरी ओर यथार्थ भाषा विकसित हुई। गद्यभाषा। अभिधा-मूलक भाषा। किन्तु शेखर की भाषा नितांत वैयक्तिक है। व्यंजनावाली। इसे अंग्रेजी प्रभाव की भाषा कह कर टाला नहीं जा सकता। यह भाषा समाज नहीं, व्यक्ति रची है। व्यक्ति मन को रचती है। कश्चित् पुरुष की यह भाषा विद्रोह व्यक्त करती है। विद्रोही व्यक्तित्व को व्यक्त करती है। किंतु विद्रोह पैदा नहीं कर सकती है। शेखर के विद्रोह, विद्रोही व्यक्तित्व का मजा लीजिए। आपको विद्रोही बनने की आवश्यकता नहीं। शेखर चाहता भी नहीं कि विद्रोह कर आप फाँसी की प्रतीक्षा करें। यह प्रतीक्षा कोई अच्छी बात नहीं है। इसे सब झेल भी नहीं सकते। तो शेखर की यह भाषा उसकी अपनी है। वह किसी शब्द को सदा अपना नहीं बनाता। वह प्रत्येक शब्द से विद्रोह की आशा करता है। बस एक बार प्रत्येक शब्द का एक क्षण होता है। उसी में वह कृतार्थ करता है। जीवन भर याद रखने के लिये। कभी-कभी बोल कर और कभी बिना बोले। एक अनुभूति भरा "उस हँसी में कुछ था जो चौंका देता था, पर साथ ही वाणी की शक्ति को भी छीन लेता था। वह हँसी कविता से भी परे थी, उसे सुनकर चुप ही होना पड़ता था।" "परिचय प्राप्त करने के लिये अधिक बोलने की आवश्यकता नहीं है, वह तो मुस्करा भर देने से हो जाता है।" यह मुस्कराना अभिव्यक्ति है। हृदय के गोपन की अभिव्यक्ति। किन्तु इसकी भाषा एक ही आदमी समझता है, जिसके प्रति मुस्कराया गया है। क्योंकि यह सार्वजनिक नहीं संकेत भाषा है। संकेत भाषा अक्सर ही वैयक्तिक होती है। "अपने पर जमी एकटक भोली आँखों से मानो वह संवेदन की एक नई भाषा सीखने लगा...।" यह संवेदना की भाषा संकेत भाषा है। उच्चरित भाषा का उद्देश्य संवेदना और सार्थकता है। किन्तु एक ऐसी भी स्थिति है जब बिना भाषा के संवेदनता और सार्थकता प्राप्त होती है। इसे मौन की भाषा भी कहते हैं। "मौन मधि पुकार" की भाषा।

किन्तु शेखर की दृष्टि में भाषा का दूसरा पक्ष भी है। विशेषकर बाल्यावस्था से किशोरावस्था तक। जब व्यक्ति अपने आसपास के घटित से प्रभावित होता है; किंतु समझता

नहीं। उसे समझाना तो दूर। कभी केवल संकेत होता है। कभी उससे छिपाया जाता है। कभी-कभी छिपायी गयी घटनाओं को किसी धक्के से, तीव्रता से समझता है। शेखर के पास ऐसे ही वर्जित और नासमझ अनुभवों का भंडार है। न समझकर भी वे उसके मनोमय कोश में पड़े हैं। किन्तु एक दिन वे सभी अंधेरे में पड़े अनुभव प्रकाशित हो जाते हैं। वह सबका अर्थ समझ जाता है। "दुनिया शेखर के आगे खुल गयी। वह सब कुछ समझ गया जो सुस्पष्ट संकेत उसने देखे थे, जो पुकारें सुनीं थीं। जो उत्तेजनाएँ पायी थीं, जो दंश सहे थे, सब सुलझ गए, माँ का छाती पीटना, पिता का क्रोध, नाचती हुई जिन्निया की नंगी टाँगें, अमृतसर की वेश्या, रसोइया का व्यंग्य, अत्ती की नंगी पीठ, गीत-गोविन्द के पद, अठमासा बच्चा, छिन्नमस्ता के नीचे पुरुष और प्रकृति का चित्र, कविता का सुख...और हाँ, सरस्वती की लज्जा, शांति के आँसू, सावित्री का मौन, शशि का आग्रह, शारदा का कंपन—सब एक ही सूत्र में गुँथ गए।...यह है ज्ञान...।"

इसके आगे अंधकार का एक परदा है। उस परदे के नीचे एक गति है, हलचल है, संघर्ष है, लेकिन वह व्यक्ति का इतना अभिन्नतम अंग है कि उसे कहना, उसे सोचना भी घोर अश्लीलता है...।'

ज्ञान और भाषा की यह एक कमजोरी है। जो समझकर भी नासमझ है। जिसे पूर्णतः स्पष्ट करना कठिन है। अनुपयोगी और अश्लील "असुंदर" भी है। पूरी रचना ऐसी ही एक अस्पष्ट अनुभूति की चेतना पर खड़ी है। संतों की संध्या भाषा के समान दृश्य अदृश्य। अनुभव चाहे जितना प्रत्यक्ष और स्पष्ट हो। किन्तु उसकी अनुभूति। उसकी प्रक्रिया। उसका बोध बिल्कुल ही निजी है। अतः वह कभी पूर्णतः पर्दे के बाहर नहीं आता। पूरा उपन्यास एक ऐसी भाषा के ताने-बाने में है जो सब कहकर भी अकथ रहता है। संतों ने भी इस अकथ को कहने के लिये प्रतीकों, रूपकों और उपमानों का प्रयोग किया था। शेखर को भी यही करना पड़ा। फर्क यह कि संतों ने साधना से भगवत्साक्षात्कार किया था। अतः उनमें आनंद है। किन्तु शेखर फाँसी की निर्ममता के समय अपने अतीत की अनुभूति का साक्षात्कार करता है। फलतः इसमें संतों जैसी मुक्तता नहीं है। फिर भी फाँसी की अभय स्थिति को स्वीकार कर ही शेखर इतना कह सका। वरना फाँसी का भय तो मनुष्य के विचारों और चेतना को पंगु बना देता है।

संत और शेखर दोनों कवि हैं। इसी से शेखर एक जीवनी कथा-प्रधान न होकर कविता-मूलक है। सारी घटनाएँ और उनका सम्बन्ध उत्तेजना मात्र बन कर रह गयी हैं। ये उत्तेजनाएँ रहस्य को खोलतीं नहीं। और भी रहस्य के पास ले जाती हैं। वहाँ जहाँ शेखर जीवन के रोमांटिक अनुभवों को लेकर फाँसी के फंदे के पास खड़ा है। संत और शेखर दोनों का जीवन "व्यक्ति" का है, सामान्य का नहीं। असामान्य का है, स्थूल नहीं। अत्यंत सूक्ष्म है। संत कबीर के शब्दों में विरल और विरला का है। इसीलिये दूसरा कबीर नहीं। दूसरा शेखर नहीं। कबीर की भाषा का अनुकरण नहीं हुआ। शेखर की भाषा दुहराई नहीं जा सकती है। स्वयं शेखर भी चाहे तो नहीं दुहरा सकता। दुहराने का अवसर भी नहीं है। वह तो दौड़ रहा है। पूरा देश है उसका कार्यक्षेत्र। किंतु उसमें एकता भी है। सभी लड़कियाँ एक जैसी हैं। एक प्रकार की अनुभूति भी। इस एक अनुभूति की विविधता शेखर की शक्ति है।

अंग्रेजी शब्दों के अधिक प्रयोग नासमझी का तनाव पैदा करते हैं। निराशा भी कहिए, शायद आतंक भी। किंतु हिंदी ग्राम्य भाषा थी। शेखर ने पहली बार उसे नागर रूप दिया है। क्योंकि शेखर की संवेदना, अनुभव और अनुभूति नागर है। सिमटी भी। मनोविज्ञान शायद इसे

कुंठा की अभिव्यक्ति कहे। संत कभी-कभी सामान्यता पर उतर जाते हैं। कभी दार्शनिकता की निपट अभिव्यक्ति करते हैं। किंतु शेखर न दार्शनिक है, न सामान्य बनता है। हाँ, वह सूक्तियाँ अवश्य बनाता है। ये सूक्तियाँ उसकी विचार चेतना की अभिव्यक्ति हैं—"स्नेह एक ऐसा चिकना और परिव्यापक भाव है कि उसमें व्यक्तित्व नहीं रहते।" "धूप और छाँव एक दूसरे के परिपूरक हैं।" "जो खेलते नहीं, जो स्वयं खिलौने हैं, जिनसे विधि खेलती है।" "वयःसंधि के काल में कौन कवि नहीं होता।" "अंधविश्वास की सर्वग्राहिणी लहर के आगे संदेह की कंदराएँ, बुद्धि के पहाड़ सब समतल हो जाते हैं और डूब जाते हैं।" "डर डरने से होता है।" "साहित्य निर्माण मानो जीवित मूल्यों का आह्वान है।" ऐसी सूक्तियाँ अनेक या बहुत हैं। यह प्रमाणित करती हैं कि शेखर सामान्य प्रेमी नहीं। प्रेमभोक्ता दार्शनिक नहीं तो विचारक अवश्य है। कभी विचार कविता बन जाते हैं। इस कविता का आरम्भ स्थूल अभिधा प्रधान "गैस" को 'ऐस' कहने से होता है। दो पंक्तियाँ "गाती आवाज में कहा।"

किंतु धीरे-धीरे कविता गंभीर रूप लेती है। गद्य गीत "जो मृत्यु से डरते हैं, वे जीवन से प्यार कर ही नहीं सकते...विराट प्रेम मौन ही हो सकता है।" "मृत्यु के भटके हुए उदास पैर द्वार-द्वार पर जाते हैं और यौवन मुरझा जाता है, और जीवन घुल जाता है, और वेदना है अनंत...हर कोई ऊँघता है और सो जाता है...मृत्यु के पंख उस पर से बीत जाते हैं। मृत्यु के पंखों में बसा है अनंत निशीथ का अंधकार, लेकिन मुक्ति है एक देदीप्यमान ज्वाला...।" तो कहना चाहिए कि कविता पढ़ने वाला शेखर जितना चिंतक है, उतना ही कवि। दोनों बराबर। कविता और चिंता की भाषा उसने पायी है, अपनी वेदना से, भोगे दर्द के सत्य और साक्षात्कार से।

एक बात और। नागर भाषा के बावजूद शेखर में कुछ सामान्य शब्द हैं। जैसे कोई चमचमाती कार से उतर कर रिक्शे पर जा रहा हो। "मियाँ मिट्ठू", मिमियाना, डरौना, मूरख, टुटियल, कुल्ला, भत्त खुदाया, मानिटर, उल्लू, मटमैला, सूथन, उजड्डपन, असूर, धम्म, तुर्रा, बौराए सांड़, औंधा, लोंदा, भोंतर, चुलबुलाहट, शिकार का लुत्फ, सिरमिट, टिट फिट, छछूँदर आदि।

पूरा उपन्यास मनोवैज्ञानिक और दर्शनाधारित होकर भी मनोविज्ञान और दर्शन के पारिभाषिक एवं शास्त्रीय शब्दों से मुक्त है। यह प्रमाण है शेखर का टाइप से बचने का। शेखर का वर्ग नहीं। व्यक्ति चरित्र है। इन्वर्टेड कामा के शब्द अत्यंत सामान्य हैं। अति सामान्य शब्द। शास्त्र नहीं, समाज नहीं। वैयक्तिक प्रसंग में विशेष परिचय देते हैं। परिभाषा से ग्रहण करते हैं। किंतु पारिभाषिक नहीं हैं क्योंकि पारिभाषिक शब्द रूढ़ होते हैं। ये शब्द रूढ़ता की कल्पना से भी दूर हैं। एक सहज संवेदना को छूते। संतों के प्रतीक जितने रूढ़ थे उतने ही कठिन भी। इसलिये कि वे पूर्णतः उलटबाँसी कहते हैं। शेखर के प्रतीक सीधे हैं। वह बर्फ का मानव बनाता है, जो रात भर में गल जाता है। एंटीगोनम की माला मुर्झा जाती है। ये प्रतीक सीधे हैं। इसलिये कि उसे संतों जैसी उलटवाँसी नहीं कहनी है। जहाँ कहना है वहाँ समझाकर कहता है—"शेखर पिटकर उन्हें (पिता को) पूजता है। माँ को कभी पूज नहीं सकता। माँ जो पीटती नहीं, पर जो "क्षमा" देती है अनुग्रह की चक्की में पीसकर।" पिटकर शेखर का अहं संतुष्ट होता है। "क्षमा" पाकर कुंठित। वह "क्षमा" के प्रति विद्रोही बन जाता है। इसी से शेखर का मनोविज्ञान सामान्य मनोविज्ञान से भिन्न है। जन्मजात विद्रोही का मनोविज्ञान है। मनोविज्ञान में भी वैयक्तिकता।

□□□

ओम प्रभाकर

शेखर : एक जीवनी : : मूल्य और उपलब्धि

'शेखर : एक जीवनी' का प्रथम खंड जब प्रकाशित हुआ तब तक हिन्दी उपन्यास साहित्य स्थूलता से मुक्त नहीं हो पाया था। तत्कालीन उपन्यासकारों की दृष्टि में उपन्यास का आदर्शपरक, उपयोगितामूलक समस्या एवं हल प्रधान होना अनिवार्य था। ऐसे युग में अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' रचना कर के वस्तुतः ही वस्तु एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से उपन्यास साहित्य की सर्वथा नई भावभूमियों को स्पर्श किया तथा आधुनिक हिन्दी उपन्यास के लिए संवेदनात्मकता, मनोविश्लेषण, रचना-तंत्र, भाषा-शैली आदि की दृष्टि से अनेक नूतन क्षितिजों के द्वार खोल दिए। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में "परंपरागत साहित्य में जो राष्ट्रीय दृष्टि अपने ऐतिहासिक विकास की परिपूर्णता के बाद विकृति को प्राप्त हो रही थी, उससे ऊपर उठकर 'शेखर' के कथाकार ने मानव संघर्ष तथा नियति की एक ऐसी कहानी प्रस्तुत की, जिसका नायक अपने संपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय परिवेश के साथ एक आधुनिक व्यक्ति है।"[1] शिक्षा एवं संस्कृति के आभिजात्य का जितना यथार्थ एवं कलात्मक वर्णन अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' तथा 'नदी के द्वीप' में किया है संभवतः हिन्दी का कोई अन्य उपन्यासकार उतना नहीं कर सका है। 'शेखर : एक जीवनी' में अज्ञेय ने एक व्यक्ति के अहं, समाज में उसके स्वतंत्र स्थापन अर्थात् व्यक्ति-चरित्र को हिन्दी उपन्यास साहित्य में एक अत्यंत उच्च स्तर पर आसीन करने का प्रयत्न किया है जिसमें वे पूर्णरूपेण सफल हुए हैं। उनके उपन्यासों जैसी अग्रणी संवेदना हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में कम ही मिलती है।

'शेखर : एक जीवनी' का कथानक अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों के कथानकों जैसा सपाट और एक गति नहीं है वरन् इसके तल में अनेक कथा-सूत्र हैं जो विभिन्न स्वतंत्र दिशाओं में बढ़ते हुए कथानक को विकसित करते हैं। अर्थात् कथानक में कोई सुनियोजना नहीं है वरन् उन विभिन्न दिशा-गतियों का विश्लेषण है जो उपन्यास को अपने-अपने विकास द्वारा एक कथात्मक रूप देती है। 'शेखर : एक जीवनी' जो कि 'शेखर' नामक व्यक्ति का जीवन-चरित्र है—का "कथानक घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए 'विज़न' को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है।"[2] लेखक ने इस एक रात्रि में शेखर के शैशव से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जीवन से साक्षात किया है अतः निश्चित है कि यदि सीधा-सादा वर्णन किया जाता तो 'शेखर : एक जीवनी' ही होकर रह जाता; किन्तु अज्ञेय की प्रतिभा ने कथानक की रचना शेखर के कतिपय प्रमुख एवं आकर्षक

1. हिन्दी नवलेखन (प्र०सं०) : डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी—पृ० 102
2. शेखर : एक जीवनी की भूमिका पृ० क

जीवन-चित्रों द्वारा इस प्रकार की है कि 'शेखर' वस्तुतः एक 'उपन्यास' बन गया है। तथा उसका कथानक तत्युगीन हिन्दी उपन्यास में वस्तु एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से एक नितान्त नूतन वस्तु है। अज्ञेय की प्रतिभा मूलतः कवि की प्रतिभा है (इस उक्ति का यह आशय कदापि नहीं है कि उनमें औपन्यासिक प्रतिभा का अभाव या न्यूनता है) सो उनके प्रायः हर उपन्यास में एक मौलिक कवि की गहन संवेदनशीलता, प्रखर और सूक्ष्म कल्पना तथा भावात्मकता के दर्शन भी होते हैं। शेखर : एक जीवनी में अज्ञेय ने कवि-सुलभ काल्पनिकता को बड़े ही कौशलपूर्ण ढंग से उपन्यास के यथार्थ कथांशों के साथ समायोजित किया है। जिससे रचना में एक अतीव प्रभावोत्पादकता एवं हृदय-द्रावक शक्ति का उन्मेष हुआ है। यह वस्तुतः आधुनिक हिन्दी उपन्यास जगत् का वस्तु एवं शिल्प—दोनों दृष्टिकोणों से एक नितान्त नूतन प्रयोग है। अतः हम यदि उसके कथानक में शास्त्रीय दृष्टिकोण से आरम्भ, विकास, चरम विंदु आदि कथा के विकास स्तरों को ढूँढ़ेंगे तो हमें संभवतः निराशा ही होगी। किन्तु, यथार्थतः तो किसी रचना की परख उसके स्वरूप और वातावरणों को दृष्टिगत रखकर ही की जानी उपयुक्त होती है।

* * *

'शेखर : एक जीवनी' अज्ञेय की प्रथम औपन्यासिक रचना है। इसके प्रथम भाग में नायक शेखर के कैशोर्य का मनोविश्लेषण है तथा द्वितीयांश में उसके युवाकाल की मानसिक स्थितियों का अंकन-प्रत्यंकन है।

फ्रॉयड एवं उसके अनुवर्ती अन्य मनोशास्त्रियों की मान्यता है कि मानव-चेतना अपने युवाकाल एवं परवर्ती जीवन में जो भी रूप धारण करती है उसकी नींव उसके प्रारंभिक बाल्यकालीन चार-पाँच वर्षों में ही पड़ जाती है। बचपन का चार-पाँच वर्ष तक का जीवन ही वह चेतनाधार होता है जिस पर किसी व्यक्ति का भविष्य जीवन निर्मित होता है। अज्ञेय ने भी शेखर के प्रथमांश में इसी मान्यता के अनुरूप शेखर के शिशुकालीन तीनवर्षीय चेतना का विश्लेषण उपस्थित किया है। वस्तुतः फ्रॉयड की एक अनुवर्तिनी मानसिक परिचारिका श्रीमती मलामिया क्लेन (Melamia klein) ने फ्रित्ज़ (Fritz)नामक तीन वर्ष के बालक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके जो निष्कर्ष निकाले हैं तथा उसकी जिज्ञासाओं, प्रवृत्तियों, क्रिया-कलापों का जो वर्णन प्रस्तुत किया है, बहुत कुछ वैसी ही ईश्वर सम्बन्धी, मानव जन्म सम्बन्धी, माता-पिता के यौन-प्रणय व्यापारों सम्बन्धी जिज्ञासाएँ शेखर के शिशुकालीन जीवन में अज्ञेय ने उपस्थित की हैं। 'शेखर' के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की अवस्था का चुनाव मनोविश्लेषणवादियों के मतानुसार ही (तीन वर्ष) है, विशेष रूप से मलामिया क्लेन के जिन्होंने फ्रित्ज़ का अध्ययन किया था।[1]

धीरे-धीरे शेखर वयप्राप्त होता जाता है। उसके क्रमशः विकसित होते मानस में अनेक प्रकार के अस्तित्व सम्बन्धी तथा अन्य पारिवारिक, सामाजिक प्रश्न उत्पन्न होते रहते हैं। किन्तु वास्तविक जीवन में वह उनका हल कहीं से नहीं पाता। और वे ही हलहीन प्रश्न धीरे-धीरे उसके मानस में ग्रंथियों का रूप धारण करते जाते हैं। अज्ञेय ने उस शिशु शेखर की इस मानसिक स्थितियों एवं क्रिया-कलापों को अत्यंत सूक्ष्मता और कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है। "अज्ञेय का शेखर हिंदी का प्रथम उपन्यास है जिसमें शिशु-मानस को (फ्रॉयड के शब्दों में Pleasure Principle) आनंद-प्रधान जीवन की झाँकियों को, उसके कौतूहल और जिज्ञासाओं

1. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान (प्र० सं०) डॉ० देवराज उपाध्याय पृ० 166-67

को तथा स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर समाज तथा माता-पिता के व्यवहार अथवा यों कहिए कि (Reality principle) के संपर्क से उत्पन्न दमन को, मानसिक ग्रंथियों को, तथा उनके जीवन-व्यापी प्रभाव को कथा क्षेत्र में लाने का प्रयत्न किया है।"[1] 'शेखर : एक जीवनी' में फ्रॉयड-मन-सम्बन्धी अनेक मान्यताओं का इतना सफल एवं स्वाभाविक प्रतिपादन हुआ है कि इलाचंद्र जोशी के उपन्यासों की भाँति यह प्रतीति नहीं होती कि महज़ मनोवैज्ञानिक सिद्धातों का ही प्रतिपादन उपन्यासकार का ध्येय है। यदि साहित्यिक एवं कलात्मक दृष्टिकोण से बौद्धिक आनन्द की प्राप्ति हेतु 'शेखर : एक जीवनी' का अध्ययन किया जाता है तो वे मनोवैज्ञानिक सिद्धांत कभी भी हमारे आड़े नहीं आते, और यदि हम विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसका अध्ययन करते हैं तो, मनोविश्लेषण की अनेक शास्त्रीय मान्यताएँ हमें उसमें उपलब्ध होती हैं।

फ्रॉयड की मान्यता के अनुरूप ही शेखर की चेतना विकास का मुख्य आधार यौन-भाव ही है। शेखर उसी की आपूर्ति के कारण शैशव से ही अस्त-व्यस्त और विक्षिप्त रहता है। और अंततः तभी वह अपने को कुछ आश्वस्त अनुभव करता है जब शशि उसे प्राप्त हो जाती है। शेखर के उग्र यौन-भाव प्रारंभ से ही अत्यधिक क्रियाशील रहते हैं। सामाजिक नियमों के कारण कुछ तो कुंठित हो जाते हैं जो उसकी आत्मा को विद्रोही बना देते हैं और कुछ जहाँ भी संभव होता है, प्रकट होते हैं। यथा, बाल्यकाल से ही सगी एवं दूर की बहिनों के प्रति शेखर का अत्यधिक आकर्षण रहता है। उसकी मौसेरी बहिन शशि तो स्पष्टतः उसकी यौन भावनाओं का तृप्ति-मलि होकर पाठकों के सम्मुख आती है। इसके अतिरिक्त पिता के रूक्ष स्वभाव के बावजूद भी शेखर का उनके प्रति प्रेम फ्रायड के 'युडिपस काम्प्लेक्स' (पितृ-रति ग्रंथि), माँ के शांत स्वभाव के बावजूद शेखर का उसके प्रति घृणा भाव फ्रायड की 'मातृ-रति ग्रंथि' और मनोवैज्ञानिक मान्यताओं के ही चित्र हैं। "फ्रॉयड ने पारिवारिक रोमांस का जो चित्र प्रस्तुत किया है, पिता के प्रति भाई का बहिन के प्रति, माता का पुत्र के प्रति, यौन भाव का आकर्षण होना, माता-पिता के यौन-प्रणय व्यापार को देख कर उत्सुकता होना और उसे देख लेने में सफल होना, इनकी मानसिक प्रतिक्रिया इत्यादि का सुंदर और कलात्मक वर्णन शेखर से बढ़कर और कहाँ पाया जाता है ?"[2]

* * *

अज्ञेय के उपन्यास सही अर्थों में आधुनिक हैं। इस बौद्धिकता, मनोवैज्ञानिकता, प्रतिद्वन्द्विता व्यस्तता के युग में व्यक्ति की क्या स्थिति है ? इस प्रश्न का यथार्थ और कलात्मक उत्तर हमें अज्ञेय के चरित्र-चित्रण में प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टि से 'शेखर' का चरित्र अद्वितीय है। अज्ञेय ने अपने चरित्रों को भारतीय जीवन के एक विशेष वर्ग में से जिसकी आभिजात्य बौद्धिकता, अहं, व्यष्टिवादिता, कुंठा, संवेदनशीलता आदि चारित्रिक विशिष्टताएँ हैं—चुना है। अज्ञेय की निजी रुचि व्यक्ति-चरित्रों की रचना में रही है। टाइप-चरित्रों की नहीं।

विद्रोह और अहं, बौद्धिकता और यौन भाव, संवेदनशीलता और कुंठा शेखर की विशिष्ट चित्त-वृत्तियाँ हैं। शेखर अपने शैशव से ही जिज्ञासु वृत्ति का है। भरे-पूरे परिवार में रहते हुए नाना प्रकार की जिज्ञासाएँ उसके मस्तिष्क में उठती रहती हैं, कभी ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में, कभी मानव-जन्म के सम्बन्ध में और कभी अपने निजी अस्तित्व के सम्बन्ध में। यथार्थ जीवन

1. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान (प्र० सं०) डॉ० देवराज उपाध्याय पृ० 162
2. वही पृ० 167

में उसकी जिन जिज्ञासाओं का समाधान नहीं होता वे ही उसके मस्तिष्क में ग्रंथियों का रूप धारण कर लेती हैं। जिससे उसकी आत्मा हर व्यक्ति के प्रति अनास्थाशील होकर विद्रोहिणी हो जाती है। उसका विद्रोह किसी निश्चित व्यक्ति या वर्ग या संस्था या समाज के प्रति नहीं है बल्कि यह विद्रोह तो उसका धर्म है, वह तो स्वयं के प्रति भी विद्रोही है। किन्तु यथार्थतः शेखर का यह विद्रोह अज्ञेय का केवल बौद्धिक विद्रोह है। शेखर जैसे-जैसे वयस्क होता जाता है जैसे-जैसे उसे जीवन के संघर्षों एवं जटिलताओं का सामना करना पड़ता है वैसे-वैसे ही उसकी यह विद्रोहवृत्ति क्षीण होती जाती है। वह पूर्णरूपेण सामंजस्यवादी यथार्थ मनुष्य के रूप में बदलता जाता है। उपन्यास के द्वितीय खंड में उसकी यह स्थिति अत्यंत स्पष्ट हो उठी है। और द्वितीयतः शेखर का यह कथन कि वह समूचे समाज के पश्चात् स्वयं का भी विरोधी है—भी अंशतः ही सत्य है। क्योंकि अपने संपूर्ण जीवन में वह और चाहे जिस वस्तु या व्यक्ति के प्रति विद्रोहपूर्ण आचरण करता हो किन्तु नारी के प्रति वह प्रारंभ से ही आकृष्ट—बल्कि आसक्त रहता है। सरस्वती उसकी सगी बहन, शशि उसका उद्देश्य, शारदा उसकी वयःसंधि काल की साथिन तथा शांति जिससे वह केवल एक या दो बार ही मिला, सबके ही प्रति उसकी यौन-भावनाएँ जागृत एवं क्रियाशील रहती हैं। इनका वह विद्रोह नहीं करता। वस्तुतः यौनभाव (सेक्स) ही शेखर के चरित्र की मूल प्रवृत्ति है। विद्रोह, अहं, बौद्धिकता, संवेदनशीलता, व्यष्टिवादिता आदि तो उस पर आरोपित हैं।

निष्कर्षतः यदि हम व्यापक समाजवादी, आदर्शवादी या उपयोगितावादी दृष्टि से देखें तो शेखर एक नितान्त असफल चरित्र सिद्ध होता है। क्योंकि समाज, आदर्श और उपयोगिता—ये तत्त्व अज्ञेय की विचारधारा के बाहर के हैं। वे व्यक्तिपरक दृष्टि से ही चरित्र-निर्माण एवं उसका चित्रण करते हैं। और व्यक्ति-चरित्र का गहन विश्लेषणात्मक विवेचन, उसके अन्तर्प्रदेशों का सूक्ष्मांकन, उसकी मूल वासनाओं का कलात्मक अभिव्यक्तिकरण तथा समाज एवं वातावरण के प्रति उसकी निजी प्रतिक्रियाओं का यथार्थ-चित्रण जैसा अज्ञेय कर सके हैं संभवतः हिन्दी का कोई अन्य आधुनिक उपन्यासकार नहीं। इस दृष्टि के निकष पर सचमुच ही शेखर एक सफल चरित्र जान पड़ता है। शशि अवश्य एक ऐसा चरित्र है जो पाठक का ध्यान अलग से आकर्षित करता है। रचना के द्वितीय खंड के परार्ध एवं समाप्ति पर तो सामान्य धारणा यह बनती है कि शशि ही वह लक्ष्य थी जिसकी प्राप्ति के लिए संपूर्ण उपन्यास में शेखर इतना विचलित दिखाई देता है। और अंत में शेखर का जीवन भी कुछ ऐसा व्यवस्थित अथवा शिथिल-सा हो जाता है। शशि के प्राप्त करने के पश्चात् जैसे जीवन में उसके लिए कुछ भी और शेष नहीं रह गया है। किन्तु व्यक्तिवादी उपन्यासकार की रचनाओं में वह चरित्र जो नायक होता है और जो लेखक के विचारों तथा भावनाओं का प्रतीक या माध्यम होता है अर्थात् पात्र रूप में स्वयं लेखक होता है, संपूर्ण रचना में एकाधिपत्य रखता है। शेखर : एक जीवनी में नायक शेखर एवं अन्य पात्रों का यही अधिपति और आधिपत्य का सम्बन्ध है। शशि यत्किंचित विशिष्ट होते हुए भी शेखर की प्रतिच्छाया है। इसी प्रकार अन्य कुछ विशिष्ट किन्तु गौण एवं शेखर के वैचारिक प्रतीक-पात्र। बाबा मदन सिंह हैं। मोहसिन तथा रामजी के चरित्र अवश्य कुछ-कुछ स्वतंत्र से हैं किन्तु वे नितान्त अप्रमुख हैं इसलिए उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व उपन्यास में स्थापित नहीं हो पाए हैं।

* * *

वर्तमान शती का संपूर्ण पूर्वार्ध भारतीय जीवन में अनवरत संघर्ष का काल रहा है।

सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक जीवन का हर पक्ष एक गहरे उद्वेलन एवं परिवर्तन से पूर्ण रहा है। जाति, धर्म, अर्थ, शिक्षा, आचार-विचार, रहन-सहन—यदि एक शब्द में कहें तो कह सकते हैं कि '**विषमता**' तद्‌युगीन भारतीय जीवन की एक प्रमुख विशिष्टता थी। यह विषमता उसके प्रायः प्रतिरूप में विद्यमान थी। ऐसे ही देशकाल में 'शेखर : एक जीवनी' की रचना हुई है। इसमें चित्रित देशकाल का अध्ययन करते समय एक उल्लेखनीय बात हमारे समक्ष स्पष्ट होती है, वह है संपूर्ण वातावरण में व्याप्त लेखक का विशिष्ट दृष्टिकोण। विशिष्ट इन अर्थों में कि यह दृष्टिकोण जो उपन्यास के नायक के माध्यम से रचना में अभिव्यक्त हुआ है। एक ऐसे व्यक्ति का दृष्टिकोण है जिसकी संपूर्ण चेतना अभिजात्य से आवेष्ठित है। यह बौद्धिक, दार्शनिक, संस्कृत, अहंपूर्ण, व्यक्तिपरक अर्थात् सामान्य भारतीय जीवन से विशिष्ट है। एक दार्शनिक विचारक की भाँति तटस्थ होकर वह अपने देश-काल को वर्णित करता है। जीवन-संघर्षों के किसी सक्रिय कार्यकर्ता की भाँति नहीं। यह निष्कर्ष 'शेखर : एक जीवनी' में चित्रित देश-काल के सूक्ष्म अध्ययन से प्राप्त होता है। किन्तु, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि तत्कालीन भारतीय समाज के यथार्थ चित्र यथार्थ रूप में उपन्यास में अंकित नहीं हैं। शेखर : एक जीवनी में हमें स्वतंत्रता-पूर्व भारत में व्याप्त अंधविश्वास, जाति-धर्म-वैषम्य, पारिवारिक रूढ़िवादिता, पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण की वृत्ति, क्रांतिकारी आन्दोलन, ह्रासोन्मुख उच्चवर्ग, स्वार्थपरता राष्ट्रीय चेतना आदि अच्छी-बुरी स्थितियों-परिस्थितियों के बड़े ही सच्चे एवं मार्मिक चित्र प्राप्त होते हैं। किन्तु उनका अंकन मात्र एक व्यक्ति 'शेखर' के संदर्भ में ही हुआ है। अर्थात् उनका परिवेश अत्यंत ही सीमित है। क्योंकि लेखक का परिप्रेक्ष्य एक संक्षिप्तता से युक्त है। हमें इस रचना में किसी भी प्रकार का वर्ग-संघर्ष, भारतीय जनजीवन का कोई विशाल आन्दोलन चित्रित किया हुआ नहीं मिलता। किन्तु इसका कारण है—लेखक की व्यक्तिपरक दृष्टि। अज्ञेय का उद्देश्य शेखर नामक व्यक्ति का जीवन-चरित्र प्रस्तुत करना है। अतः उसी से सम्बन्धित जो-जो सामाजिक चित्र आते गए हैं उन्हें वे पूरी कलात्मकता के साथ चित्रित करते गए हैं। "शेखर निस्संदेह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज (a record of personal suffering) है। यद्यपि वह साथ ही उस व्यक्ति के युग-संघर्ष का प्रतिबिंब भी है और इतना निजी वह नहीं है कि उसके दावे का आप 'एक आदमी की निजी बात' कहकर उड़ा सकें। मेरा आग्रह है कि उसमें मेरा समाज और मेरा युग बोलता है...।"[1] इसमें संदेह नहीं कि अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' में एक व्यक्ति के जीवन-चरित्र के साथ-साथ तत्कालीन भारतीय समाज के अनेक पक्ष भी उजागर किए हैं। और वह भी पूर्ण सफलता के साथ किए हैं। शेखर के अपने परिवार का चित्र स्वतंत्रतापूर्व भारत के उच्चवर्गीय परिवारों का प्रतिनिधि चित्र है। उसमें वे तमाम गुण-दोष अपने वास्तविक रूप में अंकित हैं जो तत्कालीन ऐसे परिवारों में व्याप्त थे। मणिका का चरित्र एक ऐसी भारतीय नारी का प्रतिनिधि चरित्र है जो आधुनिकता को गलत रूप में ग्रहण करती है। और पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति की विकृतियों से ग्रसित होकर पथभ्रष्ट हो जाती है। शेखर के कालेज जीवन के चित्र तद्‌युगीन युवकों की राष्ट्रीय एवं सुधारवादी भावनाओं तथा भावावेशों के चित्र हैं। अपने जीविकोपार्जन हेतु शेखर को जो-जो संघर्ष करने पड़ते हैं उनके होते तत्कालीन संपादकों, प्रकाशकों, समाजसुधारकों आदि के अत्यंत यथार्थ एवं प्रभावोत्पादक चित्र हमारे सामने स्पष्ट होते जाते हैं। स्वतंत्रतापूर्व भारत की जेलों, न्यायालयों आदि का चित्रण भी अज्ञेय ने शेखर के जीवनांकन के माध्यम से बड़े ही कौशल से

1. शेखर : एक भूमिका पृ० च

किया है। इस भाँति शेखर : एक जीवनी में हमें स्वतंत्रतापूर्व भारतीय देश-काल के अनेक पक्ष बहुत कलात्मक, यथार्थ और प्रभावशाली रूप में अंकित दिखते हैं।

* * *

शेखर : एक जीवनी का उद्देश्य एक व्यक्ति के जीवन की विविध परिस्थितियों के संदर्भ में उसके अंतर्लोकों का विश्लेषण एवं समाज में उसका स्वतंत्ररूपेण स्थापन ही है। सामाजिक धरातल के विभिन्न पक्षों पर व्यक्ति शेखर के मन का प्रक्षेपण ही इस उपन्यास में अज्ञेय ने किया है। 'शेखर' जो कि अपनी चेतना के मूल में विद्रोही है—सामाजिक जीवन को इस प्रकार जीता है, इसी जीवन-प्रक्रिया का अध्ययन शेखर : एक जीवनी नामक उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है।

'शेखर : एक जीवनी' जो कि मूलतः एक व्यक्ति की निजी जीवन-कथा है, किस प्रकार एक औपन्यासिक रचना के व्यापक उद्देश्य (मानव-जीवन के चित्र) को प्राप्त कर सकी है, यह प्रश्न इस रचना के बारे में स्वभावतया ही उठता है। एक व्यक्ति मात्र की निजी बात कभी भी उपन्यास जैसी व्यापक लक्ष्ययुक्त रचना के रूप में प्रतिष्ठित नहीं की जा सकती—यह एक अशक्य तथ्य है। फिर शेखर : एक जीवनी में ही कौन-सी विशिष्टताएँ हैं जो उसे अपने वैयक्तिक क्षेत्र से उठाकर एक अधिक व्यापक अधिक उदात्त और अधिक शाश्वत धरातल पर अवस्थित कर देती है ? संक्षेप में कहा जा सकता है कि वे हैं लेखक की व्यापक संवेदनाएँ, जिन्हें उसने एक व्यक्ति के माध्यम से सामाजिक संदर्भ में अभिव्यक्त किया है। लेखक की चेतना में केवल एक व्यक्ति शेखर ही नहीं समाया हुआ है बल्कि उसके साथ ही समाज की वे स्थिति परिस्थितियाँ भी हैं जो एक व्यक्ति के जीवन से अपने विविध स्वीकृति एवं अस्वीकृतिमूलक रूपों में संलग्न रहती हैं। इसी सामाजिक अभिव्यक्ति—जो कि भले ही एक व्यक्ति के संदर्भ में हो—के कारण शेखर : एक जीवनी मात्र जीवनी न रह कर एक उपन्यास का रूप धारण कर सका है।

बाल्यकाल से लेकर युवावस्था तक शेखर—जिसका व्यक्तित्वबोध अत्यंत जागृत अवस्था में है, अर्थात् जो अत्यंत अहंपूर्ण व्यक्ति है—का प्रयास समाज में स्वयं को स्थापित करना ही रहता है। वह अपने परिवार एवं अपने समाज सबसे विद्रोह करता हुआ अनवरत रूप में अपने स्थापन के प्रयत्नों में ही संलग्न रहता है। अज्ञेय के शब्द कि "शेखर की खोज अन्ततोगत्वा स्वातंत्र्य की खोज है।"[1] उसके उद्देश्य को स्पष्ट कर देते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में इतना और स्पष्ट हो जाना चाहिए कि शेखर की यह स्वातंत्र्य की खोज उसके स्वयं के लिए ही है : उसके प्रयत्नों के द्वारा समाज के लिए नहीं है। शब्दान्तर से 'शेखर : एक जीवनी' में लेखक का उद्देश्य व्यक्ति (शेखर) का समाज में एक संपूर्ण एवं स्वतंत्र इकाई के रूप में प्रतिष्ठापन ही है। किन्तु उपन्यास के प्रकाशित दो भागों में, जिनमें शेखर युवावस्था तक पहुँच पाया है, लेखक का यह उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सका है। शेखर अभी जीवन के संघर्षों में है। वह अभी तक उस स्वातंत्र्य की खोज नहीं कर पाया है जो उसका इष्ट है। किन्तु शेखर : एक जीवनी की संपूर्ण रचना तीन भागों में प्रस्तावित की गई है। संभव है कि उपन्यास के पूर्ण होने पर उपन्यासकार भी अपने उद्देश्य में सफल हो जाए। किन्तु अभी तक शेखर के जीवन का जितना अंश चित्रित किया गया है उसके अध्ययन से लेखक की सफलता की संभावनाएं तो स्पष्ट हो उठी हैं क्योंकि

---

1. आत्मनेपद (प्र० सं०)—अज्ञेय पृ० 66

अभी तक के जीवन में शेखर ने जितना संघर्ष किया है उसमें व्यक्ति का निखार बिना तीसरे भाग के भी साफ दिखाई देता है।

* * *

शेखर : एक जीवनी का नायक विद्रोही है। वह जन्म से ही जिज्ञासु एवं विश्लेषणशील प्रवृत्ति का व्यक्ति है। उसकी यह मनोवृत्ति जब यथार्थ जीवन में पूर्ण नहीं हो पाती तो वह क्रमशः उग्र से उग्रतर होती जाती है—उसका दमन नहीं होता और शेखर धीरे-धीरे अनास्थाशील एवं विद्रोही बनता जाता है। उसकी मानसिक सजगता यथार्थ जीवन से अनुत्तरित होकर कुंठित हो जाती है। और शेखर आत्म-केन्द्रित बनता जाता है किन्तु उसका अहं उसे उभारता रहता है। उसकी अहं युक्त विद्रोह वृत्ति अपने संदर्भ में अपने से इतर किसी का महत्त्व नहीं मानती। धीरे-धीरे वह नियतिवादी होता जाता है। "मेरे भीतर जन्मतः ही कोई शक्ति थी या शक्ति का अंकुर था।[1] उसे विश्वास होता जाता है कि वह स्वयं पूर्ण है, उसे बनाने या उसमें परिवर्तन करने में उससे इतर किसी का हाथ नहीं है। "मुझे विश्वास है कि विद्रोही बनते नहीं, उत्पन्न होते हैं। विद्रोह बुद्धि परिस्थितियों से संघर्ष की सामर्थ्य जीवन की क्रियाओं से परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से नहीं निर्मित होता। वह आत्मा का कृत्रिम परिवेष्टन नहीं है, उसका अभिन्नतम अंग है। मैं नहीं मानता कि दैव कुछ है क्योंकि हमें कोई विवशता, कोई बाध्यता है तो वह बाहरी नहीं भीतरी है। यदि बाहरी होती, परकीय होती, तो हम उसे दैव कह सकते, पर वह तो भीतरी है, हमारी अपनी है। उसे हम व्यक्तिगत नियति (Personal destiny) कह सकते हैं।"[2] इस नियति के सूत्रों के अनुसंधान की प्रक्रिया शेखर एक जीवनी है। "शेखर : एक जीवनी के विद्रोही नायक ने अपने जीवन में इन्हीं 'नियति के सूत्रों' को पहचानने की चेष्टा की है।"[3] यही शेखर एक जीवनी का दर्शन है। शेखर अपनी नियति से संचालित होता हुआ अपनी अहं एवं विद्रोह-वृत्ति के योग से उस नियति के विश्लेषण-विवेचन में जीवन भर संलग्न रहता है। उसका दर्शन समाज में अपनी स्थापना का दर्शन है। वह अपनी नियति के संचालन, सूत्रों के अनुसंधान में अपनी अवस्थिति, अपने व्यक्तित्व की प्रतिस्थापना की खोज करता जाता है। दूसरे शब्दों में "शेखर का जीवन-दर्शन क्या है क्या आप संक्षेप में बताने की कृपा करेंगे ?" "यों सूत्र आप चाहें तो कह दूँगा, 'स्वातंत्र्य की खोज', फिर आप सूत्र की व्याख्या चाहेंगे और मैं कहूँगा कि वही तो 'शेखर है।"[4] अर्थात् शेखर : एक जीवनी एक ऐसे व्यक्ति की जीवन-व्याख्या है जो स्वयः में नियतिवादी होते हुए अपने जीवन में इस नियति के सूत्रों का अनुसंधान करता है। और उनके निष्कर्ष में अपने जीवन का स्वातंत्र्य चाहता है। यही शेखर का जीवन-दर्शन है।

* * *

अज्ञेय ने जब अपना औपन्यासिक रचनारंभ किया था, तब हिन्दी उपन्यास साहित्य शिल्प विधि की दृष्टि से पर्याप्त अविकसित अवस्था में था। जैनेन्द्र एवं इलाचंद्र जोशी के त्रिकोणात्मक एवं आत्मकथात्मक औपन्यासिक शिल्प रूप ही उस काल के आधुनिकतम एवं नवीनतम प्रयोग थे। ऐसे ही काल में अज्ञेय ने शेखर : एक जीवनी (प्रथम खंड 1941) की रचना करके

1. शेखर : एक जीवनी (तृ०सं०) पृ० 33
2. वही पृ० 33
3. राष्ट्रवाणी मई 1958 : ज्वालाप्रसाद खेतान—पृ० 2
4. आत्मनेपद (प्रं०सं०) पृ० 66-67

शिल्प-सम्बन्धी एक नया प्रयोग किया। शेखर : एक जीवनी में अज्ञेय ने आत्म-विश्लेषण, पूर्व-दीप्ति, चेतना-प्रवाह तथा क्लोज-अप, स्लो-अप जैसी अनेक नूतन शिल्प-विधियों का प्रयोग किया है। चरित्र-नायक 'शेखर' जीवन के अन्तिम क्षणों में अपने संपूर्ण अतीत का प्रत्यवलोकन करता है। इस विषय के प्रतिपादन हेतु लेखक के लिए यह अनिवार्य था कि वह नवीन शिल्प विधियों का प्रयोग करे। अज्ञेय ने ऐसा किया और अत्यंत सफलतापूर्वक। नायक शेखर अपने विगत जीवन के प्रत्यवलोकन में उन समस्त स्थिति-परिस्थितियों तथा चरित्रों से साक्षात करता है जो किसी भी रूप में उससे सम्बद्ध रहे थे।

शेखर : एक जीवनी की शिल्प-विधि अत्यंत उन्मुक्त है। किन्तु इस उन्मुक्तता से रचना में कहीं अव्यवस्था नहीं आ पाई है। लेखक ने किसी एक शिल्प-रूप का सहारा नहीं लिया है। बल्कि वह यथावसर उपयुक्त शिल्प विधियों को प्रयोग में लाता रहा है। शेखर जहाँ अपने विगत जीवन का पुनर्वेक्षण करता है वहाँ लेखक ने पूर्व-दीप्ति या 'कट-बैक', शिल्प प्रणाली का प्रयोग किया है। और जहाँ शेखर अपने गत जीवन से एकाकार हो जाता है वहीं उपन्यासकार प्रथम पुरुष वर्तमान काल में कथा कहने लगता है।

शेखर के चरित्र के निर्माण में भारत-यूरोपीय संस्कृति का मुख्य हाथ है। और उसकी दृष्टि मूलतः और केवल मानवीय है। अज्ञेय ने शेखर : एक जीवनी में जो शेखर नामक व्यक्ति के जीवन का विश्लेषण किया है उसके सम्बन्ध में प्रायः 'रोम्यां रोलां' के चरित्र 'ज्याँ क्रिस्तोफ' का नाम लिया जाता है। "शेखर जैसी ही स्थिति यूरोपियन कथा साहित्य में रोलां के 'ज्याँ क्रिस्तोफ' की भी है। दोनों कृतियों में एक मूल प्राण की संगुंफित कथा है।"[1] इस संबंध में अज्ञेय के स्व-स्पष्टीकरण का उल्लेख भी अधिक उपयुक्त है। वे कहते हैं कि " 'ज्यां क्रिस्तोफ' के अनवरत आत्मशोध और आत्म-साक्षात्कार का जो चित्र रोलां ने प्रस्तुत किया है, उससे मुझे अवश्य प्रेरणा मिली : लेकिन न तो 'शेखर' उपन्यास 'ज्याँ क्रिस्तोफ' जैसा उपन्यास है न शेखर पात्र वैसा पात्र है। समानता इतनी ही है कि जैसे 'क्रिस्तोफ' में लेखक एक आत्मान्वेषी के पीछे उसका चित्र खींचता है, वैसे ही मैं दूसरे आत्मान्वेषी के पीछे चला हूँ। 'क्रिस्तोफ' में सर्वत्र उपन्यासकार अन्य पुरुष में लिख रहा है, शेखर का रूप उत्तम पुरुष में लिखी गई आत्मकथा का है यह तो तंत्र यानी टेकनिक की बात है।"[2] अज्ञेय के इस कथन से 'ज्यां क्रिस्तोफ' एवं 'शेखर' का साम्य-वैषम्य स्पष्ट हो जाता है इसके अतिरिक्त ज्यां क्रिस्तोफ एवं शेखर में एक विषमता परिवेश की भी है। ज्याँ क्रिस्तोफ का परिवेश पाश्चात्य एवं शेखर का भारतीय है। वस्तुतः शेखर की रचना में 'ज्यां क्रिस्तोफ' की प्रेरणा है, प्रभाव नहीं ; और प्रेरणा ग्रहण करना प्रभाव ग्रहण नहीं होता। डॉ० बनारसीदास चतुर्वेदी शेखर की रचना पर रूसी उपन्यासकार तुर्गनेव के चरित्र 'बाजारोव' का प्रभाव समझते हैं। शेखर के आतंकवादी होने एवं उसमें माता-पिता के प्रति अवज्ञा के भाव की स्थिति की तुलना वे बाजारोव के चरित्र की इन्हीं विशिष्टताओं से करते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में जैसा अज्ञेय का स्व-मत है कि बाजारोव एवं शेखर में एक तो सैद्धांतिक मत-वैषम्य ही है, दूसरे आतंकवाद का प्रत्यक्ष ज्ञान स्वयं अज्ञेय को है अतः माता-पिता के प्रति अवज्ञा का भाव एक सामान्य मनोवैज्ञानिक विशेषता है। इस सम्बन्ध में क्या बाजारोव और क्या किसी अन्य चरित्र का उल्लेख कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता।

□□□

1. हिन्दी नवलेखक (प्रं०सं०)—रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 102
2. आत्मनेपद पृ० 64

सत्यप्रकाश मिश्र

शेखर एक जीवनी : परम्परा, तकनीक और उपलब्धि

महत्त्वपूर्ण रचनाओं की विशेषता होती है कि वे जीवन और जगत् के बारे में ही नहीं स्वयं अपनी साहित्यिक परम्परा को नये सिरे से व्यवस्थित करती हैं और भविष्य के लिए संभावनाएँ पैदा करती हैं। "शेखर एक जीवनी" ऐसी ही रचना है जिसकी रोशनी उससे पहले के और बाद के उपन्यास साहित्य पर पड़ती है। शेखर को पढ़ते ही लगता है कि न केवल उपन्यास लिखने का तरीका बदल गया बल्कि उपन्यास पर विचार करने का तरीका भी बदल गया। द्विवेदीयुगीन मनोरंजन और सोद्देश्यतावादी धारणा से सहसा हम वैचारिकता और उद्देश्य की खोज के जगत् में प्रवेश कर जाते हैं। हमारी दृष्टि प्रेमचन्द, प्रसाद और जैनेन्द्र पर टटोलने तथा मूल्यांकित करने के भाव से पड़ती है तब पता चलता है कि उपन्यास "गोदान" तक आते-आते प्रेमचन्द की समग्र चेतना और शायद उपन्यास लिखने की पद्धति का भी "गोदान" है। "मानव चरित्रों" पर प्रकाश डालने और रहस्यों को उद्घाटित करने के क्रम से वह व्यक्ति चरित्र तक पहुँच जाता है। होरी "मानव चरित्र" के साथ-साथ एक व्यक्ति भी दिखायी पड़ने लगता है। "पिछले उपन्यासों से "शेखर" इस अर्थ में भी भिन्न है कि उसमें व्यक्ति को भी उतनी ही बड़ी विचारणीय समस्या माना गया है जितना प्रेमचन्दयुग में समाज को" (कुँवरनारायण, हिन्दी साहित्यकोश-भाग-2)। उपन्यास के बारे में दृष्टिकोण का यह बदलाव मनुष्य के बारे में हमारे दृष्टिकोण के बदलाव से जुड़ा है और मनुष्य के कारण ही यथार्थ से भी। द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता की जो प्रतिक्रिया छायावाद में हुई उसका कुछ असर कथा-साहित्य में हुआ। जैनेन्द्र के उपन्यास उसके प्रमाण हैं—और एक हद तक शेखर भी। अन्तर केवल यह है कि छायावाद का हृदयवाद उपन्यास विधा के दबाव से कथासाहित्य में उस रूप में रूपान्तरित नहीं हुआ। सुनीता, मृणाल कुछ भिन्न हैं। श्रद्धा और इड़ा की समस्या का रूपान्तरण कई रूपों में उस काल की रचनाओं में है। वस्तुतः बुद्धि और हृदय के अविश्लेष्य घोल के बगैर रचना संभव ही नहीं है। अंग्रेजों से मुक्ति का अभियान, स्वतंत्रता के लिए संघर्ष, स्वदेश और स्वभाषा के प्रति निष्ठा, अंग्रेजी का विरोध, जो प्रेमचन्द के उपन्यासों में एक पक्ष के रूप में प्रचार के स्तर तक व्याप्त है, शेखर में भी है। लेकिन शेखर पढ़े-लिखे उच्च-मध्य वर्ग और मध्य वर्ग की उस सोच को भी व्यंजित करता है जो कांग्रेस पार्टी और भद्र लोगों में पाखंड के रूप में व्याप्त है। मुखौटों को उतार कर उसके भीतर के चेहरे दिखाने का कार्य प्रेमचन्द में नहीं है और न उनका उद्देश्य है। गोदान में होरी और मेहता, दोनों ही समाज के चेहरे पर लगे इस मुखौटे को उतारते हैं। विजयदेव नारायण साही ने लिखा है कि "गोदान वह स्थल है जहाँ से प्रेमचन्द के

परवर्ती उपन्यासकारों ने अपनी कथा आरम्भ की।"

गोदान के अंत में प्रेमचन्द ने होरी के चेतना-प्रवाह का जो प्रमाण दिया है वह शेखर की तकनीक का प्रारूप है। "गोदान" और "शेखर : एक जीवनी" के दो उद्धरण इस दृष्टि से तुलनीय हैं।

"उसकी आँखें बंद हो गयीं और जीवन की सारी स्मृतियाँ सजीव होकर हृदय पर आने लगीं, लेकिन **बेक्रम, आगे की पीछे, पीछे की आगे, स्वप्न चित्रों की भाँति बेमेल, विकृत और असम्बद्ध** वह सुखद बालपन आया, जब वह गुल्लियों से खेलता था और माँ की गोद में सोता था। फिर देखा, जैसे गोबर आया है और उसके पैरों पर गिर रहा है। फिर हृदय बदला, धनिया दुलहिन बनी हुई, लाल चुँदरी पहने उसको भोजन करा रही थी। फिर एक गाय का चित्र सामने आया, बिलकुल कामधेनु-सी। उसने उसका दूध दुहा और मंगल को पिला रहा था कि गाय एक देवी बन गई और"—(गोदान 315)

"देखता हूँ कुछ दृश्य हैं, जो बिजली की कौंध की तरह जगमग हैं, कुछ और हैं जो बुझ गए हैं और घटना के अनुक्रम का धागा तोड़ गए हैं, तोड़ ही नहीं, उलझा भी गए हैं, जिससे मैं उन ज्वलंत घटनाओं को भी ठीक कालक्रम से नहीं देखता-मनमाने कालक्रम से वे चलती हुई आती हैं और चली जाती हैं, और मैं दावे के साथ नहीं कह सकता कि क्या पहले हुआ, क्या पीछे हुआ। इतना ही कह सकता हूँ कि यह सब अवश्य हुआ, और इसमें यह ध्वनित नहीं है कि केवल इतना ही हुआ या इसी क्रम से हुआ"—(शेखर भाग-2, पृ० 179)

दोनों उद्धरण अंत और प्रारंभ से मिलकर पुरानी कथा तकनीक के अंत और नई कथा तकनीक की शुरुआत का आश्चर्यजनक संकेत प्रस्तुत करते हैं। "घटना" या कथानक के स्थान पर दृश्यों का कम्पोजीशन, अनुक्रम के स्थान पर बेक्रम बे-मेल, विकृति और असम्बद्धता, काल के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण मात्र का ही नहीं, यथार्थ के स्थिर, जड़ और एक रस स्वरूप के प्रति दृष्टिकोण का भी बदलाव है। "उपन्यास-रचना" पर लिखते हुए प्रेमचन्द ने "मनोभावों के चित्रण" पर लिखा है कि "ऐसे उपन्यासों के लेखकों का ध्यान घटना-वैचित्र्य की ओर बहुत कम रहता है। वह ऐसी ही घटनाओं का आयोजन करता है जिनमें उसके चरित्रों को अपने मनोभावों को प्रकट करने का अवसर मिले। घटनाएँ कम होती हैं, पात्रों के विचार अधिक। टालस्टाय के उपन्यासों में यही गुण प्रधान है। ऐसे उपन्यासों को रचने के लिए आवश्यक है कि लेखक अपने को विभिन्न अवस्थाओं में रख सके। इस प्रकार की कहानियों में लेखक का पाठकों के सामने अनिवार्य रूप से अधिकतर अपना ही हृदय खोलकर रखना पड़ता है। दूसरों के मनोगत भावों को जानने का उनके पास और क्या साधन हो सकता है ? कोई अपने मन के भाव किसी से नहीं कहता, बल्कि छिपाता है। अगर किसी को किसी मित्र के मनोभावों का ज्ञान हो सकता है तो बहुत कम। इसलिए ऐसे उपन्यास लिखना लोहे के चने चबाना है" (विविध प्रसंग भाग-3) और लोहे के चने चबाने का कार्य किया अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' में उसी तकनीक से जिसका प्रयोग मृत्यु की अर्धचेतन अवस्था में होरी के प्रसंग में प्रेमचन्द ने किया है। जाहिर है यह तकनीक उपन्यास के आनुक्रमिक, बाह्योन्मुखी, ऐतिहासिक, कथानक और चरित्र केन्द्रित उपन्यास की अवधारणा के ठीक विपरीत है क्योंकि इस प्रक्रिया में घटना कथानक और चरित्र का स्थान दृश्य और दृश्यों का कम्पोजीशन ले लेता है जिससे उपन्यासकार स्वसंदर्भी या आत्मवादी हो जाता है। फलतः रचना की व्याख्या की कई संभावनाएँ पैदा हो जाती हैं, जो

"शेखर : एक जीवनी" में भी हैं। "भूमिका" तथा 'प्रवेश' में लेखक ने अत्यंत कौशल के साथ जीवनी गढ़ने के क्रम में "कलावस्तु" की निर्मिति का उल्लेख करके, अन्तर्निर्मित अनेकार्थता का संकेत भी प्रसाद की 'कामायनी' की तरह किया है। यदि इसे न भी माना जाय, हालांकि इस प्रकार के आत्मवादी उपन्यासों में भूमिका और प्राक्कथन रचना के ही हिस्से माने जाते रहे हैं—तो भी शेखर के पढ़ने से ही, बाल-मनोविज्ञान, कामशास्त्रीय अर्थवत्ता, प्रेमकथा, "साहित्य रचना" पाखंडों का उद्घाटन एतादृशत्व की असलियत को सामने रखना, स्वतंत्रता और मुक्ति की आकांक्षा, अपर्याप्तता के प्रति विद्रोह, पूर्णत्व की खोज, चरितार्थता की तलाश आदि अनेक तत्त्व ऐसे अनुभूति-योग का निर्माण करते हैं जो उपन्यास ही नहीं बल्कि विधा मात्र की परिभाषाओं को उलट कर नयी परिभाषा दे देता है। यह उपन्यास काव्य, प्रगीत, चित्र, मूर्ति और संगीत आदि के आश्चर्यजनक संश्लेष की निर्मिति का यत्न करता है—अनुभवों के नया व्याकरण रचता है।

निराला ने हिन्दी उपन्यास की उपलब्धि और सीमा का संकेत करते हुए प्रकारान्तर से संभावना के उन क्षेत्रों का संकेत किया है जो "शेखर : एक जीवनी" में मिलती हैं। उन्होंने लिखा है कि "प्रेमचन्द जी हिन्दी के सबसे बड़े औपन्यासिक हैं, पर पूर्वकथन के अनुसार युग को नये साँचे में ढाल देने वाली रचनायें उन्होंने नहीं दीं। युग के अनुकूल रचनाएँ की हैं। प्रायः आदर्श नहीं छोड़ा। यद्यपि उनके पात्र कभी-कभी प्राकृतिक सत्य की पुष्टि अपने उल्लंघनों तथा उच्छृंखलताओं के भीतर से कर जाते हैं। तथापि रचना में उनके आदर्शवाद की ही विजय रही है। उनके सितार में वही बोल विशेष रूप से स्पष्ट सुन पड़ता है। हिन्दी के और उपन्यासकारों की मैं कोई चर्चा नहीं करूँगा। कारण उनमें खूबियों की जगह कमज़ोरियों के ही बीमार चित्र अधिक मिलते हैं। कहीं भाषा रो रही है तो कहीं अंधे भाव को रास्ता नहीं सूझता। कहीं अचानक ही सफे के सफे रंग डाले हैं तो कहीं कर्कशता की छुरी से चित्रों की नाक ही काट ली है। किसी-किसी महालेखक की भाषा तो ऐसी स्थूलांगी है कि जगह से हिलना भी नहीं चाहती। चलना तो हराम इसे उठना कसम है और वहीं से दूसरों को रिझाने के लिए अपने उपले-से मुँह की मक्खियों-सी आँखों से इशारे करती हैं।" (प्रबंध-प्रतिमा—130) निराला उपन्यास में कथ्य और भाषा के स्तर पर इस विचलन या उपन्यास की मुक्ति के आकांक्षी हैं। मृत्यु की आसन्न प्रतीक्षा की रात में देखे हुए विजन, दृष्टि, बिम्ब, अनुभूति-संश्लेष का कायान्तरण है 'शेखर : एक जीवनी' जिसमें 'जीवनी' शब्द जैसा कि डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा है—"वस्तुतः शीर्षक में "जीवनी" का भाव जीवन-वृत्त से अधिक जीवन जीने की प्रक्रिया से है।" जीने के इसी क्रम में सर्वतोमुखी विद्रोह, सब कुछ को तोड़ने और ध्वंस कर डालने की इच्छा, बौद्धिक शीतल घृणा, माता-पिता और भाइयों के प्रति उपेक्षा-भाव या फ्रॉयड के शब्दों में बाल-मनोवृत्ति के अनुसार भाई आदि की मृत्यु-कामना, उबाल, निषेध, अवज्ञा आदि क्रमशः सोद्देश्यता, दृष्टि और गहरी अर्थवत्ता या जीवन की चरितार्थता की तलाश में बदलते हैं। इसी चरितार्थता, अर्थवत्ता, संपूर्ति-आपूर्ति, संदेश के सूत्रों का मुक्त आसंग ही 'शेखर : एक जीवनी' है।

निराला की आकांक्षा का उपन्यास लिखा गया कि नहीं, यह कहना तो कठिन है, परंतु 'शेखर : एक जीवनी' में उपन्यास को कला के स्तर तक पहुँचाने की कोशिश जरूर है जिससे कविता की मुक्ति की तरह उपन्यास की मुक्ति हो जाय। उपन्यास, विधा के रूप में ऐसी आधुनिक विधा है जो काल को इतिहास और विशुद्ध अनुभव के रूप में एक साथ देख सकता है और प्रस्तुत कर सकता है। इस अर्थ में वह कई विधाओं और तकनीकों की विलयित पारस्परिकता से ही संभव

है। ऐसा उपन्यास ही एक साथ कई स्तरों पर विद्यमान यथार्थ से टकराहट या उसके बदलाव की पगध्वनि की प्रतीति करा सकता है और साथ ही साथ अपरिवर्तित के प्रति संकेत कर सकता है। 'शेखर : एक जीवनी' एक कलात्मक माध्यम के रूप में (अज्ञेय उपन्यास को कलात्मक माध्यम मानते हैं और लेखक के रूप में भाषा के प्रति सदैव सजग रहते हैं) पूर्णतः सफल भले न हों क्योंकि पूर्ण सफलता की कल्पना भी तो शेखर के बाद ही संभव हो सकी है ; लेकिन भाषा के लूले-लँगड़ेपन और स्थूलांगी स्वरूप को अतः यथार्थ के स्वरूप को भी बदल तो दिया ही। और यह बदलाव स्मृति के द्वारा ही संभव होता है जहाँ इतिहास और संभावना को एक बिन्दु पर विजन के भीतर स्थिर किया जा सकता है। क्योंकि लेखक वर्तमान में स्थिर होते हुए वर्तमान में नहीं रहता है और स्मृति के द्वारा सर्जित इतिहास को वहाँ खींचता है जहाँ वह होता है। इस तर्क से कलाकृति अनेक प्रकार के व्यावहारिक विभाजनों और नामों के भीतर स्थिर होकर भी उनके निषेध से उत्पन्न होती है। यह निषेध समय के प्रसार की भाँति हर प्रकार के आग्रहों और नामों के निषेध तक फैल जाता है। 'शेखर : एक जीवनी' इसी अर्थ में महज एक उपन्यास ही नहीं बल्कि कलात्मक उपन्यास है जिसका न प्रारंभ है और न अन्त। इस प्रकार का उपन्यास इस अर्थ में मनुष्य के पूरे इतिहास को, उसकी वेदना और खुशी को, पाप और पुण्य को, सत् और असत् को, अच्छाई और बुराई को, काम और निष्काम को तथा विद्यमान हाहाकार और पाखंड को एक साथ अभिव्यक्त कर सकता है। प्रतिध्वनित सत्य को प्रतिभासित करने के क्रम में वह यथार्थ के उस दलदल का भी संकेत करता है जिसमें धँसना ही धँसना है और भारतीय समाज में व्याप्त वर्जनाओं के उन कारणों का भी जहाँ समान्यतः और असामान्यतः दोनों ही पागलपन हैं।

शेखर के प्रेरक तत्त्वों में एक ओर जहाँ तत्कालीन हिन्दी उपन्यास मध्यवर्ग की पश्चिमोन्मुखी दृष्टि, भारतीय समाज में व्याप्त गरीबी, अशिक्षा, एकरसता, स्थिरता और जड़ाव के हद तक पहुँची हुई विलयित चेतना है, वहीं दूसरी ओर वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ में उपन्यास की वह सौन्दर्य शास्त्रीय परम्परा है जो रूसो, नीत्से, मार्क्स और फ्रॉयड, वर्गसां और कान्ट के विचारों तथा धर्म, अर्थ, काम और मुक्ति के वास्तविक अर्थों की तलाश से जुड़ी है, क्योंकि यह वह समय है जब भारत का पुनर्जागरणकालीन बिम्ब धूमिल पड़ने लगता है और हिन्दी में यूरोप की बड़े पैमाने पर खोज होने लगती है। एक यथार्थ से घबराकर मृगतृष्णा को यथार्थ समझने के भ्रम का परिणाम है "शेखर : एक जीवनी" इसीलिए मूलतः बड़ी ही त्रासद है—होरी से अधिक। हिन्दी उपन्यास के विकास में 'परीक्षागुरु' की भूमिका में पश्चिमी उपन्यासों की तरह हिन्दी में उपन्यास लिखने की इच्छा निरंतर विद्यमान रही है। प्रेमचन्द ने उपन्यास पर लिखे अपने लेखों में पश्चिम के अनेक उपन्यास लेखकों के उद्धरण दिए हैं। अज्ञेय में अगर हिन्दी उपन्यासों के कालक्रमिक, पारंपरिक उपन्यासों के स्वरूप बदलने की इच्छा है तो यह इस तकनीक की अपर्याप्तता के बोध से ही नहीं, बल्कि तकनीक के कारण यथार्थ का साँचे में ढला हुआ वह स्वरूप बोध भी है जो हमारे संवेदन को "ऐसा ही है" की प्रतीति तक ही ले जाता है। 'शेखर : एक जीवनी' रोमांटिकता का प्रसार है या उसमें रोमांटिकता है तो इस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में वह छायावाद में प्रयुक्त होती है बल्कि, इस अर्थ में कि वह नार्म, प्रभुसत्ता, यथास्थिति के प्रति विद्रोही है। वैसे तो रोमांटिक शब्द के प्रयोग की दृष्टि से लगभग 11396 अर्थ बताए जाते हैं। विद्रोह एक अर्थ में अपर्याप्तता या असंपूर्णता की प्रतीति से उत्पन्न होती है। इस प्रकार से शेखर की रोमांटिकता वैयक्तिकता की नहीं, व्यक्तित्व की खोज या व्यक्ति के मुक्त विकास की संभावनाओं की तलाश का पर्याय है, और कला, सामाजिक अनुपयोगिता के अनुभूति के विरुद्ध

अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न। अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है या कला संपूर्णता की ओर जाने का प्रयास है, व्यक्ति को अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा (त्रिशंकु : कला का स्वभाव और उद्देश्य)। शेखरः एक जीवनी कलावस्तु भी है। कला के प्रति यही भाव या अडिग आस्था ही शेखर को 'दर्द से बड़ा विश्वास होता है' या किसी के विरुद्ध लड़ना पर्याप्त नहीं है, किसी के लिए लड़ना भी जरूरी है..." तक पहुँचाती है।

शेखर अपने माता-पिता की भिन्न प्रकृतियों से उत्पन्न छः सन्तानों—सरस्वती, ईश्वरदत्त, प्रभुदत्त, शेखर, रविदत्त और चन्द्र में से अपनी विशिष्टता के प्रति जागरूक बालक था। बालक शेखर के बचपन की शिक्षा की व्यवस्था उस युग के हिसाब से उच्च मध्यवर्ग के अनुकूल हुई थी : 'जब से उसे होश हुआ था तब से वह प्रत्येक बात में अकेला ही रहने का अभ्यस्त था। शेखर का नाम माँ ने 'बुद्धदेव' रखा था जिसका संदर्भ प्रारंभ में ही है और जहाँ शेखर और अज्ञेय एक हो जाते हैं। शशि की माँ विद्यावती जो उसकी सगी नहीं, रिश्ते की मौसी थी, ने माँ से 'चन्द्रशेखर' रखने को कहा था। निश्चय ही चंद्रशेखर और शशि में एक श्लेष है, जो शंकर के मस्तक में विद्यमान शशि का और प्रकारान्तर से उपन्यास के भवितव्य का संरचनात्मक संकेत भी है। यह भी एक प्रकार का कलात्मक कौशल है। या कथावस्तु की गढ़न है कि शेखर से अत्यंत निकट से संबद्ध चरित्र या व्यक्तियों का नाम "श" से ही शुरू होता है। "शेखर : एक जीवनी" में 'अनुक्रम और सहवर्तित्व' के एकत्र निर्वाह के कारण अर्थवत्ता के अनेक स्तरों में से शेखर से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण घटनाओं और विकास का एक क्रम निर्मित किया जा सकता है जो शेखर व्यक्ति का भी होगा और शेखर लेखक का भी निर्मित होता है, जो लेखकमात्र का भी हो सकता है अज्ञेय का भी हो सकता है और शेखर का भी। 'शेखर और लेखक—दोनों का यह कथन इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि दोनों के जीवन में व्यक्ति और 'टाइप' का एक अविश्लेष्य घोल है। शेखर में सर्वत्र 'मुक्ति', 'स्वतंत्रता', 'निर्बन्धता' अपने को जानने और पाने का प्रयत्न—'आत्म की खोज' (युंग के अर्थ में) और यौन-वर्जनाओं से मुक्ति की कोशिश संरचना-तत्त्व के रूप में विद्यमान है जिसका प्रमाण बचपन से नौजवानी तक के अनुभव पर केन्द्रित यह उपन्यास ही है जहाँ चेतन-अचेतन के खजाने से अनेक मूल्यवान रत्न और आकांक्षाएँ स्मृति के माध्यम से रूप ग्रहण करती हैं।

उपन्यास में जो अन्य चरित्र या घटनाएँ—दृश्य आए हैं वे दो प्रकार के हैं। कुछ तो हैं जो बाहर प्रकाश डालते हैं और शेखर के युग को, उसके समय को परिभाषित करते हैं 'जो वस्तुपरक जगत्' और 'ऐतिहासिक समय' है। इसके अन्तर्गत स्वदेशी आन्दोलन, अंग्रेजी-विरोध, अछूतों की समस्याएँ, धर्म और अर्थ की समस्याएँ, वेश्यालय, प्रकाशन व्यवसाय, महंगाई, गरीबी, मिस प्रतिभा, अत्ती, जिन्नया, शांति-शारदा, अमोलक राय, रामेश्वर, उसका पिता, उसकी माँ, बेरोजगारी, एंटीगोनम क्लब आदि आते हैं। वस्तुपरकता आत्मपरकता से नितान्त अलग भी नहीं है। वस्तुतः रचना के स्तर पर जिस तकनीक के सहारे सब कुछ रचा गया है उसमें वस्तुपरकता आत्मपरकता से प्रभावित होकर, 'शेखर के व्यक्तित्व के खोज के संदर्भ में भी मूल्यवान है क्योंकि ये सब शेखर के कारण हैं। घटित होने के बावजूद अर्थवत्ता या दृष्टिकोण की दृष्टि से ये शेखर की स्मृति के अंग अतः उसकी खोज है। खोज इस अर्थ में कि शेखर के पूर्व इतनी तीव्रता और गहराई से किसी उपन्यास में पाखंड का उद्घाटन नहीं किया गया था और न ही असलियत को स्वीकार किया गया था। शेखर में इस दृष्टि से कहीं भी यथार्थ का आदर्शीकरण नहीं मिलता है जो औपनिवेशिकता के दबाव से अपने को आध्यात्मिक दृष्टि से संपन्न महसूस करती थी। अपने आप में अज्ञेय की हिन्दी

उपन्यास को यही एक सबसे बड़ी देन है कि उन्होंने साहसपूर्ण स्वीकृति को मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया और उसके लिए जैनेन्द्र की तरह से किसी दर्शन या आदर्श की बैसाखी नहीं पकड़ी। प्रेमचन्द के उपन्यासों में पाए जानेवाले सरलीकरणों या प्रश्नों के उत्तरों की अपर्याप्तता से अज्ञेय परिचित थे और 'गोदन' तक पहुंचते-पहुँचते प्रेमचन्द भी दिए गए उत्तरों से असंतुष्ट थे। 'गोदान' उत्तरहीनता का उपाय है—वह प्रश्नों और समस्याओं को खुला छोड़ देता है।

इस प्रकार के प्रश्नों का एक उत्तर देने का प्रयत्न प्रसाद की 'तितली' में है और एक उत्तर 'इरावती' में, प्रेमचन्द और प्रसाद के उत्तरों में अपेक्षाकृत काफी साम्य है। 'कामायनी' और 'प्रेमाश्रम' एक उत्तर खोजने के प्रयत्न ही तो हैं। लेकिन दोनों लेखकों की अन्तिम कृतियों में दिये गए उत्तर उपन्यास और भारतीय समाज की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण हैं। जैनेन्द्र ने अप्रतिरोध का अहिंसावादी समाधान या उत्तर खोजा वह मनुष्य को ही बदलने का, 'कुंठारहित' करने का जैन-धर्म प्रभावित गांधीवादी उत्तर था जो एक प्रकार से छायावाद का विस्तार या प्रेमचन्द का परिष्कृत प्रेमाश्रमीय उत्तर ही है।

अज्ञेय को प्रसाद की 'इरावती' का उत्तर समझ में आता है—शेखर की प्रकृति को देखते हुए वही संभव भी था। दूसरी ओर जैनेन्द्र की आन्तरिकता उन्हें आकर्षित करती है जो उपन्यासकार के संदर्भ में जैसा कि 'गोदान' पर लिखते हुए साही ने लिखा है कि दोस्तोएवस्की की तरह मानव के भीतर ही ऐसी राह खोजना है जो अनंत दिशा का संकेत दे। अज्ञेय के लिए इस दृष्टि से रचनाकार के रूप में दूसरा रास्ता ही संभव था। तात्कालिकता की दृष्टि से परतंत्रता के बंधनों से मुक्ति के रूप में, सतत क्रांति के रूप में त्रात्स्की का रास्ता जिसके विषय में उन्होंने शेखर के समय के क्रांतिकारियों के लिए भी वही सबसे प्रिय रास्ता माना है (हंस—जून-1947)। और आंतरिकता की दृष्टि से वही 'शेखर : एक जीवनी' भाग दो में मदन बाबा, रामजी, मोहसिन और शशि के माध्यम से उन्हें जेल के एकान्त और जेल के बाहर मिलती हैं। शेखर इस अर्थ में 'राहों का अन्वेषी' ही है। रास्तों का होना न होना एक बात है, रास्तों की खोज ही प्राथमिक शर्त है राहों के होने या बनाने की। 'इरावती' और 'ध्रुवस्वामिनी' के रास्ते के उत्तर तो 1930 से लेकर 1940 तक लिखी गई अनेक कहानियों में भी मिलेंगे जो 'छोड़ा हुआ रास्ता' में संकलित है जिसमें अधिकांश क्रांतिकारियों से सम्बन्धित हैं, जिन्हें पढ़कर लगता है कि रचनाकार माध्यम को माँज रहा है। इनमें भावना अधिक है वैचारिकता कम। शेखर द्वारा हर स्थापना, शास्त्रोचित उत्तरों और मान्यताओं पर लगाए गए प्रश्नचिह्न पूरे वृत्ति-चक्र को ही उद्वेलित करते हैं—सामाजिक मंथन पैदा करते हैं—विधि-निषेध को तर्क की कसौटी पर कसते हैं और यह कसना ही शेखर को संपन्न बनाकर उसमें जिज्ञासा की वृद्धि करता है। शेखर जिज्ञासा को सृष्टि की गतिशीलता और सृजन का आधार मानता है। "जिज्ञासा" कहानी जो मूल रूप में 1929 ई० में लिखी गई थी और इस रूप में 1935 में लिखी गई—को सहचार क्रमिक दृष्टि से शेखर भाग दो, पृ० 79 पर यथावत संस्थित किया गया है। ठीक वैसी ही जैसे कि कहानियाँ विन्यास क्रम के तर्क से संपादन के कारण में 'पिगमाल्य की मूर्ति' की कलावस्तु गढ़ने के क्रम में निकल गयी हैं या निकाल दी गई हैं जैसे 'छाया', 'क्षमा', 'दुःख' और 'तितलियाँ'।

प्रश्नाकुलता को आधुनिक उपन्यास का सबसे बड़ा गुण माना गया है। शेखर इस अर्थ में आधुनिक है कि वह सहज स्वीकारी नहीं है। जिज्ञासा प्रश्नाकुलता की ही दार्शनिक संस्करण है। "ऊषा और ईश्वर" के अंतर्गत 'शेखर' द्वारा बालकोचित जिज्ञासा के साथ पूछे गए प्रश्न और पाठक के संवेदनों को सहजता, मार्मिकता और बौद्धिकता की दृष्टि से संवेदित या विचलित ही नहीं

करते हैं बल्कि बालक और पिता की दुनियाँ के यथार्थ से अधिक गहरे यथार्थ की ओर संकेत करते हैं। ये प्रश्न या ऐसे अनेक प्रश्न पश्चिम के उपन्यासों में आधुनिक उपन्यास की पहचान के रूप में बीसवीं शताब्दी के प्रतीक के रूप में पहले ही पूछे जा चुके थे परंतु हिन्दी में पहली बार इस रूप में पूछे गए हैं कि सहसा वे हर पाठक को एक साथ बालक और पिता, शेखर और शेखर के पिता हरिदत्त बना देते हैं और जो नहीं पूछे गए हैं उन्हें समेट लेते हैं। ये प्रश्न यथार्थ के प्रति बदले हुए-बदलते हुए दृष्टिकोण की सूचना देते हैं और साथ ही साथ नए दृष्टिकोण के प्रकाश में स्थापित या विद्यमान के प्रति संशय, भी पैदा करते हैं जो शेखर के मन में अनेक बार पैदा होता है और जो नृवंश के विकास के साथ आदम की कथा से जुड़ा हुआ है। अनुद्घाटित यथार्थ के उद्घाटन और संशय-प्रश्नाकुलता एक प्रकार के दृष्टिकोण का निर्माण करते हैं और उपन्यास को दृष्टिकोण के उपन्यास के रूप में बदलते हैं। चीजों को देखने के दृष्टिकोण का बदलाव ही शेखर की रचना का कारण है। शेखर का देखना मूलतः वहीं से शुरू होता है जहाँ 'होरी' मरता है। 'होरी', मेहता, मृणाल आदि दृष्टिकोण के परिवर्तन के प्रमाण हैं। यह सब होने के क्रम में भाषा होती है बल्कि यह सब कुछ होता ही भाषा में है।

'गोदान' जहाँ खत्म होता है वहीं वह तकनीक और भाषा भी खत्म होती है। फलतः प्रश्नों के उत्तर के लिए या प्रश्नों के लिए ही नई प्रकार की भाषा और अनुभवों को दूसरों तक पहुँचाने के लिए तकनीक की आवश्यकता होती है। रचनाकार के रूप में शेखर का विकास उपन्यास में शांति, सौन्दर्य, गति आदि के अनुभव से ही नहीं जुड़ा है, बल्कि भाषा के अध्ययन में अत्यंत सीधे तरीके से शेखर के मानसिक विकास के साथ भाषा का एक रिश्ता भी ढूँढ़ा जा सकता है। शेखर भाग दो में, जहाँ दृश्य काफी विस्तृत है और आनुक्रमिकता अधिक है, यहाँ तक कि स्मृति के भीतर से स्मृतियों का योग है, भाषा-प्रौढ़ता और चिन्तन की गंभीरता है वह सहज प्रतिक्रिया या निष्कर्षात्मकता नहीं है जिसे 'भावुकता' कहा जाता है और जो बालक शेखर के उबल कर कहने से संबद्ध है। पहले भाग की अपेक्षा अंग्रेजी की युक्तियों और उद्धरणों का प्रयोग नहीं है—बंगला और संस्कृत के ही उद्धरण और भारतीय संदर्भ अधिक हैं जो शेखर की समझ का ही लक्षण नहीं है बल्कि एक संदेश है पहले भाग की तुलना में दूसरे भाग की और परिपक्वता का जो रचना की शर्त भी है।

शेखर : एक जीवनी के प्रसंग में एक और महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत करना आवश्यक है और वह यह कि शेखर में कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि हिन्दी का लेखक बोल रहा है। बार-बार यह लगता है कि एक लेखक लिख रहा है अर्थात् शेखर की समस्या एक भारतीय की समस्या है जो प्रेमचन्द की समस्या थी या प्रसाद की समस्या थी या निराला की थी। दुर्भाग्यवश बाद में उपन्यासों और कहानियों में लगने लगा कि यह हिन्दी का ही नहीं बिहार का लेखक है। यह पहाड़ का है और पहाड़ या बिहार या करैता या पूर्णिया के क्षितिज पर भारत स्थित है। शेखर में निरंतर इस अर्थ में व्यक्ति-चरित्र के बावजूद एक प्रकार का मानव चरित्र भी समाहित है, उसका देशकाल कहीं का भी शुद्ध देशकाल हो सकता है। एक तरह से यह तात्कालिक प्रश्नों पर चिरंतन दृष्टि और चिरंतन प्रश्नों पर तात्कालिक दृष्टि का प्रश्न है। शेखर में प्रत्यक्ष अनुभव प्रमाण है। यह प्रमाण शेखर : एक जीवनी के अध्यायों के विभाजन क्रम में है जिसे सृष्टि और मनुष्य के विकास क्रम का वैचारिक दृष्टि से प्रमाण माना जा सकता है और जो रचना में 'काल' की दृष्टि से नहीं, बल्कि वैचारिकता की दृष्टि से एक प्रकार के अनुक्रम का निर्धारण है। यही वैचारिकता 'शेखर : एक जीवनी' भाग दो में विवेक में परिणत होती हुई दीखती है जिसका पहला प्रमाण शेखर भाग दो का

जेल प्रसंग है। पहले भाग में सहज बोध से बुभुक्षा-काल और बुभुक्षा से वासना काल या बौद्धिकता की ओर का प्रवाह मिलता है। बालकोचित अहंवाद—जो बालक मात्र का गुण है क्योंकि हर बालक अपने जन्म से ही विशिष्ट होता है अपने देह या भूख के तर्क से संसार को स्वीकार करता है—वह अपनी स्वीकृति चाहता है—अपने खोज तथा निर्मिति की स्वीकृति—विशिष्टता-अद्वितीयता की संपुष्टि चाहता है। शेखर के प्रारंभिक अंश इस दृष्टि से सर्वोत्तम हैं जहाँ बालक की दृष्टि से सब सहज है। 'सरस' के संदर्भ में व्याख्यायित प्रसंग भी। इस अर्थ में शेखर भी एक बालक है और सामान्य से कुछ थोड़ा भिन्न वह इस अर्थ में होता है कि वह देखने लगता है जो समाज की स्वीकृति से भिन्न है। बालक शेखर रचना स्तर पर शेखर एक जीवनी की तकनीक से अपने समय के परिप्रेक्ष्य में पूरी मानवता को परिभाषित करता है। इस अर्थ में वह विद्यमान ढोंग और झूठ को निरावरण करते और उसकी निरावरणता में ही अपनी और अपने देश की और मनुष्य की समस्याओं का हल खोजने तथा प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न भी है। निम्नलिखित उद्धरण शेखर के व्यक्तित्व के आधार की ओर ही नहीं उस बौद्धिकता की ओर भी करता है जो प्रेमचन्द युग और उनके बाद के रहस्यमय वातारण की परम आवश्यकता था जिसमें धर्म, ईश्वर, भवानी, गरीबी, महंगाई आदि का सही तात्कालिक उत्तर खोजा जा सके। "उसने देखा-समझ लिया कि कोई किसी का नहीं है, यानी इतना नहीं है कि उसका स्वामी, निर्देशक, भाग्य-विधायक बन सके। कोई ऐसा नहीं है जिस पर निर्भर किया जा सके, जिसे प्रत्येक बात में पूर्ण, अचूक माना जा सके। यदि किसी का कोई है, तो उसकी बुद्धि, मनुष्य को उसी के सहारे चलना है, उसी के सहारे जीना है, ऐसे स्थान अवश्य हैं जहाँ बुद्धि जवाब दे जाती है, लेकिन इसमें वह ईमानदारी है जो बात नहीं जानती, वहाँ पर चुप रहती है, गलत उत्तर नहीं देती। बौद्धिकता के साथ सहजता की बुनावट ही इस उपन्यास की महानता का कारण है। लेखक उन स्थलों और दृश्यों को उपन्यास के माध्यम से जीवन्त और संप्रेष्य बनाना चाहता है जो बाद में एतादृशत्व के कारण संभव नहीं हो पाती। बाल्यावस्था और तरुणाई की उन नवीन और जीवन्त क्षणों की खोज का प्रयत्न ही तो यह उपन्यास है। विश्व में अनेक महान आधुनिक उपन्यासों की शुरुआत इस प्रकार की स्थिति में हुई है जहाँ मृत्यु के साक्षात्कार के क्षणों में वेदना की घनीभूतता से जीवन का सहज, टटका और प्रभावशाली बिम्ब निर्मित हुआ है। शेखर : एक जीवनी का शेखर बचपन और तरुणाई के कारण ही वह सब देख सका जो प्रौढ़ और वृद्ध नहीं देख सकते थे। हमारी अनुभूतियाँ कितनी ताजी और गहरी अंकित हैं यह इस पर निर्भर करता है कि कितनी सहज अप्रच्छन्न, निर्मल और सशक्त हैं। शेखर जब तक बालक है तब तक उसके लिए सब सहज है परंतु जैसे ही उसे कुछ लज्जाजनक या घृणास्पद प्रतीत होता है वैसे ही वह वह हो जाता है जो पहले नहीं था। (शेखर भाग-एक पृ० 138)

प्रवृत्ति के सामने निरावृत्त होने का ऐसा ही अवसर है जिसमें वह सौन्दर्य से अभिभूत हो जाता है। परंतु, बाद में "व्हाट ऑल मैरिड पीपुल शुड नो" पढ़ने के बाद वह सहसा अर्थ बदल जाता है। प्रारंभ की प्रतीति जैसे एक स्पर्श के साथ झनझना कर टूट जाती है—कुछ पापमय और गर्हित लगने लगता है, जिससे मुक्ति उसे शशि के साहचर्य के बाद ही मिल पाती हैं। शेखर में ऐसे अनेक स्थल हैं जैसे कश्मीर का दृश्य, समुद्र में तैरने की प्रतीति, झरने के पास लेटने की अनुभूति आदि, जो विद्रूपताओं और पाखंडों के संसार से नितान्त परे हटकर और शायद उनके परिपार्श्व के कारण ही निराश्रत अनुभव कराते हैं जिसके लिए ही भाषा और कला अपने को रूपान्तरित करती है और ऐसी ही प्रतीति के लिए वह जीना भी चाहता है।

शेखर : एक जीवनी के प्रकाशन के ठीक बाद छपी विश्वंभर मानव, रामचंद्र तिवारी, श्रीकृष्ण सक्सेना आदि की समीक्षाएँ शेखर की नवीनता और विशिष्टता का स्पष्ट उल्लेख करती हैं। शिवदान सिंह चौहान ने "कथा-साहित्य की समस्याएँ" में लिखा कि अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' 'गोदान' के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण और कलात्मक उपन्यास है। नेमिचंद्र जैन प्रतीक में "घोर आत्मरति के कारण लेखक अपनी ही संकुचित परिधि में चक्कर काटता रहता है और घुटता रहता है" लिखते हुए भी उसकी तीव्रता से प्रभावित हुए बिना न रह सके और कहना पड़ा कि "इस अन्तर्मुखी साहित्य में एक तीखी तीव्रता है जो प्रायः पाठक को अवसन्न छोड़ देती है"। रामविलास शर्मा ने स्तालिन के प्रति व्यक्त वाक्यों के कारण—हालांकि स्तालिन के बारे में अब काफी तथ्य प्रकाश में आ गए हैं—शेखर के आत्म-विश्लेषणात्मक अंश के आधार पर 'कुंठावाद का प्रतीक' मानते हुए लिखा कि 'शेखर ऐसी चरम स्वार्थपरता का प्रतीक है कि वह किसी भी जनहित के काम में हिस्सा नहीं ले सकता' यद्यपि 1943 के 'हंस' के 'प्रान्तीय भाषाओं का प्रगतिशील साहित्य' में लिख चुके थे कि "वात्स्यायन की रचनाओं में एक तरह की सांस्कृतिक तटस्थता है। वह शेखर के मनोविश्लेषण में भी इलियट की धारणा—लिटरेचर इज ऐन इस्केप फ्राम पर्सनालिटी (साहित्य द्वारा हम व्यक्तित्व से तटस्थ हो सकते हैं) को पुष्ट करते दिखाई देते हैं। उनकी समस्याएँ कुछ-कुछ लारेंस की सी हैं परंतु लारेंस से भिन्न वह क्रियाशील व्यक्ति हैं, उनके मनोगत बंधन भस्म हो रहे हैं परंतु मानो यह अग्नि परीक्षा अभी पूरी नहीं हुई है"। नन्ददुलारे बाजपेयी इसे उपन्यास मानने को तैयार नहीं हैं "क्योंकि इसमें एक ही पात्र का चरित्र चित्रित है और वह भी नितान्त एकरस"। जीवनी में एक विशालता अवश्य है किन्तु औपन्यासिक विशालता नहीं। घटनाओं, परिस्थितियों और चरित्रों का संघर्ष किसी बड़े पैमाने पर नहीं पाया जाता। इसमें कला और चित्रण-सम्बन्धी ऐसी प्रौढ़ता है कि इसके महत्त्व पर संदेह नहीं किया जा सकता। नलिन विलोचन शर्मा ने 'आलोचना' के उपन्यास-विशेषांक में लिखा है कि अज्ञेय ने "शेखर : एक जीवनी में कुछ फ्रॉयड, क्राफ्ट, एविंग, हैवलाक, इलिस और कुछ लारेंस से अनेक उपादान लेकर कोनराड की प्रत्यग-दर्शन प्रणाली का उदाहरण उपस्थित किया है। अज्ञेय इस उपन्यास में न तो प्रत्यग्दर्शन प्रणाली के कठिन स्थापत्य का निर्वाह कर पाते हैं न उपन्यास के मुख्य पात्र के प्रति निर्लिप्तता का।" ये टिप्पणियाँ और समीक्षाएँ उपन्यासों के प्रकाशन के आसपास की हैं और कुछ विशिष्टताएँ लिए हुए हैं। सामान्य पाठकों को यह अपूर्व रचना प्रतीत हुई। 'साहित्य संदेश' (भाग 5 अंक 2) में 'शेखर : एक जीवनी' (भाग-एक) की समीक्षा करते हुए डॉ॰ श्रीकृष्ण सक्सेना ने लिखा कि " 'शेखर : एक जीवनी' के प्रकाशन से न केवल हिन्दी के प्रथम कोटि के उपन्यासों की गिनती में वृद्धि हुई है, बल्कि कई दृष्टियों से एक अपूर्व रचना हिन्दी को उपलब्ध हुई है। यह मान ग्रंथ अंग्रेजी अथवा अन्य योरोपीय भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं के समान ही प्रभाव डालता है। मनोवैज्ञानिक सूझ की गहराई में मानव के चित्र और हृदय के गूढ़तम रहस्यागारों तक पहुँचने की सामर्थ्य में यह उपन्यास विदेशी रचनाओं से किसी तरह भी कम नहीं ठहरता। लेखक में कल्पना को मूर्त करने की असाधारण शक्ति है। और उसका वह पूरा प्रयोग भी करता है। पुस्तक पर सर्वत्र एक महान कलाकार की प्रतिभा की गहरी छाप है।" शेखर : एक जीवनी की आलोचना जिन कारणों से की गई है वे सब वही हैं जिनकी निरावरणता शेखर का लक्ष्य है। पश्चिमी उपन्यासों के आधार पर शेखर की कमियों का उद्घाटन वैसे ही है जैसे शेखर के आधार पर पश्चिम के उपन्यासों का उद्घाटन। 'शेखर' एक भारतीय उपन्यास है और हिन्दी भाषा में लिखा गया उपन्यास है। शेखर के बाद दुबारा वैसा उपन्यास नहीं लिखा गया।

'साँचे में ढले समाज' की सीमा बताना या दिखाना उस समाज के ही हित में है जिसका शेखर निरंतर विरोध करता है। शेखर की उत्तम पुरुष शैली की विशिष्टता के कारण भी कुछ गलतफहमियाँ पैदा होती हैं। यह शैली रचना को अन्ततः आत्मकथा के रूप में प्रस्तुत करती है फलतः पाठक जो कुछ देखता है वह वही होता है जो शेखर देखता है या कथानक अथवा बयान करने वाला देखता है। दूसरे इस प्रकार की तकनीक पाठक को भीतर प्रविष्ट कराती है। रचना को समझने पर दबाव डालती है मनोरंजन पर नहीं। तीसरे इस प्रकार की रचना एक दीक्षागम्य पाठक की न केवल माँग करती है बल्कि पहले से स्थापित कथा-रुचियों और संस्कारों को तोड़ती है जिसके कारण भी कई लोगों को एक झटका या धक्का लगता है। नन्ददुलारे बाजपेयी जिसे कमी मान रहे हैं वह उपन्यास की स्थापित मान्यता के अनुकूल ही है। यह उपन्यास पात्र, घटना, ऐतिहासिकता, यथार्थ का स्थूल चित्रण, काल की ऋजुरेखीय अवधारणा और निष्कर्षात्मकता, स्थिरता आदि को नकारता है और उपन्यास की वह परिभाषा निर्मित करता है जो शेखर के आधार पर ही बनती है। महत्त्वपूर्ण नई कृतियाँ अपने से पूर्व स्थापित परिभाषाओं को बदलती हैं और अपने जैसी कृतियों की समझ के लिए भिन्न उपन्यास-समयों का निर्माण करती हैं। ये परिभाषाएँ इसलिए बदलती हैं कि स्वयं मनुष्य की क्षमता संभावना की स्थितियाँ भी बदल जाती हैं। शेखर : एक जीवनी को पढ़ते समय बार-बार यह लगता है कि संसार से उसका सम्बन्ध केवल सतत का नहीं है—आँख की इंद्रिय का ही नहीं है—बल्कि अधिक गहरा है इसलिए वह जीने के लिए एक व्यावहारिक दार्शनिक आधार की खोज करता है। शेखर : एक जीवनी इसी अर्थ में एक जीवनी है नहीं तो वह अनेक जिन्दगियों की भीड़ में दबी नामहीन एक जिन्दगी ही होती। यही कारण है कि इस उपन्यास में प्रारंभ से ही तै 'कैसे जिया जाय कि वह सार्थक हो'—अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी। आखिर लेखक उस रात यही तो देखता है कि उसके इस जीवनी की जो शेखर के साथ मिलकर मौत की प्रतीक्षा कर रहा है इसकी चरितार्थता क्या है—अपना खाता खोलकर एक भारतीय की तरह देखता है। उसमें कुछ जतन से ओढ़ने का भाव है कि नहीं और अंत में शेखर को कबीर की तरह यह संतोष होता है कि उसका प्रस्थान जतन से ओढ़ने की ओर ही है।

इस प्रकार की तकनीक का प्रारंभिक प्रयोग देवकीनंदन खत्री ने 'भूतनाथ' में और चन्द्रधर शर्मा ने 'उसने कहा था' में किया है परन्तु, आनुक्रमिकता कथा-संरचना में बनी हुई है। इस दृष्टि से यह आधुनिक उपन्यास है कि इसमें पश्चिम के उपन्यास की सभी विशिष्टताएँ और वे भी जिसे वात्स्यायन काल के प्रति-दृष्टिकोण के रूप में मानते हैं—विद्यमान है। मराठी में भालचंद्र नेमाड़े द्वारा लिखित 'कोसला', 'शेखर : एक जीवनी' से तुलनीय है—तकनीक, शैली और कथ्य की दृष्टि से। कुछ दृष्टियों से शेखर से बेहतर उपन्यास है, यद्यपि शेखर के बहुत बाद का है। इन सभी उपन्यासों में कथानक का प्रत्यक्षतः अभाव, चरित्रों का न्यूनतम विकास, प्रत्यक्ष का विस्तृत वस्तुपरक वर्णन, शब्दावली के साथ विधि-प्रयोग, पिता के द्वारा पीटा जाना, प्रभुता मात्र चाहे पिता हो या माता के प्रति विद्रोह की भावना, दमित यौन वर्जनाएँ, आत्मपीड़ा और पर-पीड़ा का भाव, सतत विद्रोह, वाक्यों, अनुच्छेदों और विराम चिह्नों के संकेतात्मक प्रयोग, वैकल्पिक समाप्ति और प्रारंभ, अक्रमता आदि पाया जाता है। शेखर प्रारंभ में पिता द्वारा टाइप, शिक्षित, सामाजिक, सबकी तरह चेहरा रहित बनाने के क्रम में अवज्ञा या उपेक्षा के कारण प्रायः पीटा जाता है और पीटे जाने के बावजूद वह 'टाइप' या 'प्रतिलिपि' बनने से इन्कार करता है। रचना के स्तर पर भी शेखर में इस टाइप से विद्रोह है परंतु उपन्यास में शारदा, अत्ती, पिता, सदाशिव आदि सभी 'टाइप' हैं और उनकी वेशभूषा और नाक-नक्श का ऐसा वर्णन भी किया गया है।

कान्वेंट की सिस्टर, थुक्कू मास्टर, बड़े भाई की कलम न देने का अस्वीकार, अंग्रेज के सामने अंग्रेजी न बोलने का निश्चय आदि अनेक बाल-सुलभ शरारत, अवज्ञा, क्रोध के अवसरों पर वह पिटता है और पिटकर विद्रोही और प्रश्नाकुल हो जाता है।

रचनाकार के कथन को आवश्यक नहीं कि रचनाओं के बारे में प्रमाण माना जाय परंतु, शेखर : एक जीवनी जैसे उपन्यास में तो वह कभी अति-प्रामाणिक और कभी अत्यंत अविश्वसनीय हो जाता है। अज्ञेय 'तार-सप्तक' में लिखते हैं कि "आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन-वर्जनाओं का पुंज है। आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा है और वे परिकल्पनाएँ सब दमित एवं कुंठित हैं। उसकी सौन्दर्य चेतना भी उससे आक्रान्त है। इसके उपमान सब यौन-प्रतीकार्य रखते हैं। प्रतीक द्वारा कभी-कभी वास्तविक अभिप्राय अनावृत्त हो जाता है—तब वह स्पष्ट इंगित से घबरा कर भागता है जैसे बिजली के प्रकाश में व्यक्ति जाग जावे।" (तारसप्तक—278)

"उपन्यास का यह (मानव चरित्र से व्यक्ति चरित्र का) विकास डार्विन और मार्क्स के आविर्भाव और प्रचार के साथ हुआ। नए वैज्ञानिक अनुसंधान और ज्ञान ने उपन्यासकार की दृष्टि बदल दी। उसका लिखना ही बदल गया। क्योंकि उसकी दृष्टि बदल गई। उसके बाद एक और बहुत बड़ा परिवर्तन फ्रॉयड के साथ आया। उसकी मनोविश्लेषण पद्धति ने व्यक्ति मानस और व्यक्ति चेतना की गहनताओं पर नया और तीखा प्रभाव डाला। इससे उपन्यासकार को 'व्यक्ति मानस' को समझने में बड़ी सहायता मिली, बल्कि एक नई दृष्टि और पैठ मिली जिसके सहारे वह विशेष व्यक्ति के मन के भीतर होने वाले संघर्ष को पहचान सका। चेतना प्रवाह (स्ट्रीम ऑफ कांशसनेस, अथवा स्वगत भाषण) (इंटर्नल मोनोलॉग) के उपन्यास इस दृष्टि के परिणाम हैं...इस नई दृष्टि अथवा दृष्टिकोण के महत्त्व का एक उदाहरण आधुनिक उपन्यास में काम जीवन अथवा 'सेक्स' का वर्धन है। (हिन्दी साहित्य : आधुनिक परिदृश्य—पृ० 83-84)

इस प्रकार के अनेक उद्धरण दिए जा सकते हैं। शेखर एक जीवनी के प्रारंभ में ही गर्भ स्थित शिशु के प्रसंग में 'अचेतन' और 'सामूहिक अचेतन' के स्पष्ट संकेत हैं। (शेखर भाग एक पृ० 36-37)

प्रकृति के संदर्भ में वह शेखर, 'सन ऑव नेचर' लिखने का उल्लेख ही नहीं (पृ० 49 और 50) जंगल की स्वतंत्रता और मुक्तता की रूसो की तरह कामना करता है, ईश्वर के झूठेपन और मृत्यु की घोषणा वह नीत्शे की तरह ही करता है और फ्रॉयड की स्थापना का संकेत करता हुआ उसके विपरीत एक स्थापना करता है कि "माँ की ओर आकर्षित पुत्र और पिता की ओर आकर्षित कन्या साधारणता की ओर, सामन्यता की ओर जाते हैं और पिता की ओर आकृष्ट पुत्र, माता की ओर आकृष्ट कन्या, असाधारण होते हैं। पहली श्रेणी में मिलेंगे सीधे-सादे शांत आदमी, सामान्य स्त्रियाँ, जिनमें कोई खास बुराई नहीं है जो साधारणतया प्रसन्न और संतुष्ट होते हैं, जो जीते हैं, रहते हैं और मर जाते हैं : दूसरी माँ प्रतिभावान लेखक और कवि, देश और संसार को बदल देने वाले सुधारक, क्रांतिकारी डाकू, जुआरी, पतित से पतित मानवता के प्रति...अच्छे या बुरे उनके लिए साधारणता नहीं है : वे सुलग नहीं सकते, पट ही सकते हैं...अच्छे और बुरे का निर्णायक कौन है ? शेखर साधारण नहीं था।" (शेखर एक जीवनी—पृ० 112)

ज्वाला प्रसाद खेतान ने 'अज्ञेय की रचना में काम तत्त्वों की परिणति के अध्ययन क्रम में शेखर में प्राप्त यौन-वर्जनाओं के उदय-विस्तार और शशि के संदर्भ में तिरोभाव को अनेक

उद्धरणों से प्रमाणित किया है। वस्तुतः शेखर भाग एक दूसरे भाग की तुलना में अधिक प्रायोगिक और कम परिपक्व है। भाग एक में दो अत्यंत विभिन्न भावनाओं के समकालीन विकास के चिन्तन के रूप में चित्रित दो दृश्य और सौन्दर्य कितना नग्न और नग्नता कितनी सुन्दर तै वाक्य के साथ ही शशि का शब्द "शेखर, अब उतर आओ" की एक वर्जित आवाज कला के चरम आनंद और व्यवहार की बाधा के साथ ही साथ काम-सम्बन्धी संकेत परकता भी है मूर्ति का नंगापन, शेखर का नंगा होना, सूराख से युगनद्ध माता-पिता को देखना—दोनों एक नहीं है—इसलिए सर्वत्र उसे नहीं खोजा जा सकता है। फ्रॉयड ने इन्टरप्रेटेशन्स ऑफ ड्रीम (विशेषकर 'दि मैटेरियल सोर्सेज ऑफ ड्रीम्स के प्रथम अध्याय के अन्तर्गत) बालकों के प्रसंग में पिता-माता, भाई-बहन की मृत्यु, नग्नता, गृह-विहीनता के कारण उड़नेवाली धूल, झरने, सुखद झाड़ियों, वनस्पतियों के परिचय—हैबिटेट के वर्णन, पुष्पों और डंठलों आदि के स्वप्न-प्रसंगों के प्रतीकात्मकता की व्यापक और दोहरी अर्थवत्ता का उल्लेख किया है, जो शेखर भाग एक में अधिकता से स्वप्नों, कल्पनाओं और स्मृतियों के कारण पाठ, अनुभव, वेदना और घृणा के रूप में फैले हुए हैं।

शेखर घृणा और वासना को प्रेम और राग से अधिक मूल्यवान मानता है परंतु शेखर की घृणा उसके जीवन और जगत् की परिस्थितियों और परिवार से उत्पन्न होकर धीरे-धीरे एक मूल्य बन जाती है। भाग दो में ही वह मूलतः प्रेम और फिर त्याग का महत्त्व समझता है इसलिए नहीं कि यह क्रम है बल्कि इसलिए कि जेल और शशि के साहचर्य से घटित व्यक्तित्वान्तरण दूसरे भाग में ही है।

उपन्यास के ग्रहण में फ्रॉयड का ज्ञान आवश्यक नहीं है परंतु रचना में वह न केवल अनुस्यूत है बल्कि संरचित कृति के एक तन्तु के रूप में वह झलकता अवश्य है। किसी रचना की निर्मिति में—शेखर भी एक रचना है और लेखक भी—कितनी तत्त्व या भावनाएँ शामिल हैं यह नहीं कहा जा सकता है और इसी कारण से हर रचना एक से अधिक व्याख्याएँ चाहती है। शेखर भाग एक में बीस वर्ष में, पन्द्रह वर्ष, तेरह वर्ष, गर्भाधान, जन्म, वयःसंधि और मृत्यु के प्रतीक्ष्यमाण क्षण की अनेक स्मृतियों के कल्पित चित्र, दृश्य और अचेतन के अतल में आदिम वासनाएँ सुप्त हैं जो समय-समय पर सपनों और दिवा-स्वप्नों और प्रतिक्रियाओं के रूप में एक बिम्ब या संश्लेष में समय की तरह स्थिर हैं। इसी अर्थ में वे शेखर को एक कलाकृति बनाते हैं। भाषा की सूक्तिमयता और दृश्यों की पूर्वापर हीनता इसे पंचतंत्र, कथा-सरित्सागर और महाभारत की कोटि में प्रतिष्ठित करती है। जहाँ रचनाओं का समय रचनात्मक समय है ऐतिहासिक नहीं और इसीलिए आज भी प्रमाणभूत और अनुभवभूत हैं। उपन्यास के भीतर की घटना का एक पक्ष एक ओर मृत्यु के प्रतीक्ष्यमाण परंतु जीने की कामना से सराबोर कालविशेष से जुड़ा है—ऐतिहासिक है और दूसरा रचनाकार की कल्पना में संभव विश्व में हो रही घटनाओं की शाश्वतता-अर्थवत्ता से। किसी उपन्यास की यह चरम सर्जनात्मक उपलब्धि है जो डॉ० लोहिया के शब्दों में तात्कालिक प्रश्नों पर चिरंतन दृष्टि से और चिरंतन प्रश्नों पर तात्कालिक दृष्टि से सोचने से ही संभव हो सकती है और जो शेखर में है।

□□□

राजेन्द्र कुमार

शेखर : मनोविश्लेषण की सोद्देश्यता

"शेखर : एक जीवनी" के साथ अज्ञेय ने जब हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में पदार्पण किया, तब कथा-चेतना में एक ऐसी लहर आ चुकी थी जिसके कारण सम्बन्धों के सामाजिक विस्तार में जाने की अपेक्षा उनकी मनोवैज्ञानिक गहराई में जाना ज्यादा जरूरी माना जाने लगा था। यह लहर उपन्यास की केंद्रीय वस्तु को समाज-चिंता से व्यक्ति-चिंता की ओर ठेलने का काम कर रही थी। प्रेमचन्द की परंपरा से उपन्यास का यह विचलन आगे के लिए भटकानेवाला मोड़ साबित हुआ या बीच का एक जरूरी सोपान, यह बहस का विषय है। लेकिन यह निर्विवाद है कि इस विचलन को बदलती हुई परिस्थितियों में उभर रही व्यक्तिवादी चेतना का सहयोग पूरी तरह प्राप्त था। व्यक्तिवादी चेतना के उन्मेष से जहाँ बुद्धि, निपुणता और जीवन-स्तर आदि के क्षेत्र में विशिष्टता अर्जित करने की होड़ बढ़ रही थी, वहीं सामाजिक उद्देश्योन्मुखता का अस्तित्व भी संकट में पड़ रहा था। सामान्यतया, व्यक्तिवाद की यह प्रवृत्ति होती है कि वह मर्यादाओं का नियमन करनेवाली सामाजिक सचेतनता और स्वच्छंद व्यवहारों के लिए छूट देनेवाले वैयक्तिक मनःप्रवाह के बीच अंतर बढ़ता देखने को अपनी नियति मानकर चलता है। वैज्ञानिक तौर पर इस अंतर की विश्वसनीय व्याख्या के लिए आधुनिक लेखकों-विचारकों को जिन सैद्धांतिक आधारों की जरूरत थी, उनमें से एक उन्हें "मनोविश्लेषण सिद्धांत" के रूप में प्राप्त हुआ। फ्रॉयड को इसी तथ्य के साक्षी-भाव से अज्ञेय देखते हैं और लिखते हैं—"उसकी मनोविश्लेषण-पद्धति ने व्यक्ति-मानस और व्यक्ति-चेतना की गहनताओं पर प्रकाश डाला। इससे उपन्यासकार को व्यक्ति-मानस को समझने में बड़ी सहायता मिली, बल्कि एक नयी दृष्टि और पैंठ मिली जिसके सहारे वह व्यक्ति के मन के भीतर होनेवाले संघर्ष को पहचान सका।" (हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० 82)

व्यक्ति के मन के भीतर के संघर्ष को मात्र अंतर्द्वन्द्व या पाप-पुण्य के नैतिक ऊहापोह के रूप में भावनात्मक चित्रण का विषय बनाकर रख देना अज्ञेय की औपचारिक दृष्टि को गवारा नहीं हो सकता था। उन्हें, बतौर एक "मॉडल" व्यक्ति के आधुनिक मन को इस तरह पेश करना था कि उसके वास्तविक परिचालन का श्रेय, सामाजिक नीतिमयता को नहीं बल्कि "प्राकृतिक नीतिमयता" (शेखर, भाग-2, पृ० 56) को दिया जा सके। शेखर के माध्यम से उन्हें अपने मन की कहानी कहनी थी, अपने **"आधुनिक मन" की आत्मकथा** लिखकर। इसी अर्थ में "शेखर : एक जीवनी" मूलतः एक आत्मकथात्मक कृति है। लेकिन फिर इसे "जीवनी" कहने का क्या आशय? इस उपन्यास में शेखर अपने मन को इस तरह खोलकर रखता है जैसे उसका मन

अपने आप में सर्वथा एक स्वतंत्र चरित्र हो। इस तथ्य का एक अंतःसाक्ष्य उपन्यास की भूमिका के इस कथन में विद्यमान है—"यहाँ तक कि मैंने स्वयं अनुभव किया है कि मैं एक स्वतन्त्र व्यक्ति की प्रगति का दर्शक और इतिहासकार हूँ, उसके जीवन पर मेरा किसी तरह का भी वश नहीं रहा है।" (भाग-1, भूमिका, पृ० 11)। एक **"आधुनिक मन" का पूरे उपन्यास में इस तरह फैलकर "चरित्र" हो जाना**—इसी में संभवतः वह वास्तविक तर्क निहित है, जिससे यह आत्मकथा "जीवनी" हो जाती है। शेखर के चरित्र के रूप में एक "आधुनिक मन" की यह जीवनी लिखी नहीं जा सकती थी यदि आधुनिक बोध के अंतर्गत मनुष्य के मन की सत्ता ने अपनी नयी पहचान न पाई होती।

पूर्ववर्ती रूढ़ अवधारणा में मन प्रायः हृदय का ही पर्याय हुआ करता था। हृदय के व्यापार और बुद्धि के व्यापार को परस्पर भिन्न ही नहीं, बल्कि अक्सर एकदम विरोधी मानने के आग्रह का परिणाम था, वह मन ! मानवीय सोच में ज्यों-ज्यों वस्तुपरकता आती गई, भावनात्मकता के प्रति तर्क की बद्धमूल संकोचशीलता शिथिल होती गई। तर्क का आश्रयस्थल मस्तिष्क ही होता है, यह पारंपरिक मान्यता थी। मन के भी अपने तर्क और नियम होते हैं, अब यह विचार सामने आया। इस प्रकार हृदय और बुद्धि, इन दोनों के द्वन्द्व की ही नहीं, दोस्ताने की भी संभावनाएँ स्पष्ट होने लगीं। इस द्वंद्व और दोस्ताने का भोक्ता बना आधुनिक मन और साक्षी बना आधुनिक दर्शन। परिणामतः आधुनिक साहित्य में भी इसी की अवतारणा हुई। शेखर इसी को **"मेरे मस्तिष्क का हृदय"** (भाग-1, पृ० 19) कह कर पहचनवाता है।

आधुनिक रचनाकारों को मनुष्य के मन का यह "मॉडल" उपलब्ध कराने में अपनी सदी के मनोविज्ञानवेत्ताओं ने विशेष योग दिया। मनोविश्लेषणशास्त्र के अनुसार मन की परिभाषा यह है कि "इसमें अनुभूति, विचार और इच्छा के प्रक्रम होते हैं।" मनोविश्लेषक इस बात पर भी बल देता है कि विचार और इच्छाएँ केवल **चेतना की सीमा** तक के ही प्रक्रम नहीं है, बल्कि **"अचेतन विचार"** और **"अचेतन इच्छाएँ"** भी होती हैं। (द्रष्टव्य, फ्रायड, 'मनोविश्लेषण, हिन्दी अनुवाद', पृ० 15-16)। प्राकृतिक विज्ञानों (नेचुरल साइंसेज़) के क्षेत्र में जिस तरह बाह्य प्रकृति के नियम खोजने पर बल दिया जाता था, मनोविज्ञानवेत्ताओं ने उसी तरह मनुष्य की आंतरिक प्रकृति के नियम खोजकर मानवीय आचरण की व्याख्या ही बदल डाली। पाप-पुण्य की धर्मगत अवधारणाओं के बजाय मानवीय मनो-रचना के वस्तुगत जैविक आधारों पर मनुष्य के चरित्र को परखा जाने लगा। असामान्य और असामाजिक स्वरूप के लिए जिस आचरण की अब तक भर्त्सना होती थी, अब उसके मनोगत कारणों के प्रति वैज्ञानिक समझदारी की माँग पैदा हुई। फ्रॉयड ने मनुष्य की मौलिक वृत्तियों की शक्तिमत्ता का अभिज्ञान कराया। यौन-वृत्ति को उसने आधारभूत वृत्ति सिद्ध किया और बताया कि उसके दमन से पैदा होनेवाली मानसिक बाध्यताएँ व्यक्ति और समाज, दोनों के विकास के लिए घातक होती हैं। एडलर ने "हीनता-ग्रंथि" और "क्षतिपूरकता" का सिद्धांत प्रस्तुत करके "अहंभावना" और यौनेतर आंतरिक वृत्तियों के विवेचन को गति दी। इन सभी सिद्धांतों की सीमाएँ चाहे कुछ भी रही हों, लेकिन इन सबके पीछे बुनियादी प्रेरणा यही थी कि ऐसी रोशनी मनुष्य को मिले जिससे उसके मन के किसी भी कोने में पड़ी कोई भी वृत्ति आधुनिक मनुष्य की समझदारी के प्रति छिपाव-दुराव का भाव न रख सके।

अज्ञेय का शेखर बचपन से ही "छिपाव-दुराव" के प्रति तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करता मिलता है। उपन्यास के पूरे विस्तार में हम स्थान-स्थान पर लक्षित कर सकते हैं कि यह

प्रतिक्रिया करता बचपन मानों शेखर को जीवन भर "हाँट" करता रहता है। (संभवतः इसी लिए आगे चलकर शेखर को "प्रौढ़ शिशु" कहा जाता है।) वह अपने परिवार के बड़ों के द्वारा अपने शैशव को छला जाता महसूस करता है। प्रकृति उसे ज्यादा आत्मीय लगती है क्योंकि वह उन्मुक्त है। अपनी किशोरावस्था की स्मृतियों को शेखर अपने एक कथन में इस तरह टाँकता है—"मैं अपने घर के विरुद्ध ही विद्रोह का आयोजन करता और अपनी विवशता पर और अपनी अकिंचनता पर दाँत पीस-पीस कर रह जाता था।" (भाग-1, पृ० 38) घर की ओर से उसके सामने जो भी आदर्श रखे जाते, वे सब उसे आडंबरपूर्ण और मिथ्या मालूम होते। क्योंकि, "स्वाभाविकता—किसी बात का केवल इसलिए होना कि वह उस समय हो रही है, या उसे कहने वाला उसे कर रहा है—के लिए उनके निकट कोई स्थान नहीं था, (भाग-1, पृ० 119) और "उत्तरदायित्व शून्य बच्चे की निष्कपटता का उत्तरदायित्व कितना बड़ा है, वे भला क्या समझें ! (भाग-1, पृ० 123) इसलिए वह घर से भागता और प्रकृति में रमता। प्रकृति उससे कुछ भी नहीं छिपाती। प्रकृति उस पर कुछ भी आरोपित नहीं करती। **प्रकृति तो उसके लिए बस प्रस्तुत होती, इसीलिए ग्राह्य भी होती।** उसे लगता प्रकृति में ही है जीवन का सच्चा आदर्श। किशोर शेखर एक बार "आजीवन न लौटने का निश्चय करके घर से निकला" तो पूरी रात बाहर ठंड में ओवरकोट के सहारे गुजार कर सुबह-सुबह एक जल-प्रपात को देखते हुए उसे ऐसी ही अनुभूति हुई थी—"...जीवन ऐसा होना चाहिए—शुभ्र, स्वच्छ, संगीतपूर्ण, अरूद्ध, निरंतर सचेष्ट और प्रगतिशील, घर-बार के बंधनों से मुक्त और सदा विद्रोही...।" (भाग-1, पृ० 40) **जीवन के ऐसे ही आदर्श रूप को अपना प्राप्य मानकर, प्राप्त आदर्शों के दमनकारी स्वरूप के विरुद्ध शेखर अपनी राहों का अन्वेषी बनता है।** इस प्रक्रिया में उसकी अनेक गतिविधियों का विश्लेषण करने के लिए फ्रॉयड और एडलर जैसे मनोविज्ञानवेत्ताओं के पर्यवेक्षणों का कैसा रचनात्मक उपयोग किया गया है, इसका एक प्रमाण है उपन्यास के प्रथम खंड में दिया गया यह विवरण "...किन्तु यह एक विचित्र बात है कि उसके जीवन की जो सबसे पहली दो-एक घटनाएँ उसे ठीक तौर पर अपनी अनुभूति-सी याद है, वे उन तीनों महती प्रेरणाओं का चित्रण करती हैं, जो प्रत्येक मानव के जीवन का अनुशासन करती हैं—अहंता, भय और सेक्स...।"(भाग-1, पृ० 49)।

इस विवरण पर ध्यान देते समय एक प्रश्न यह भी उठाया जा सकता है कि मनोविज्ञान के अंतर्गत जो तथ्य एक सामान्य नियम है, वह उपन्यास के अंतर्गत शेखर के विशेष सन्दर्भ में **"किन्तु यह विचित्र बात है"** कह कर क्यों रक्खा गया ? मेरी समझ से इसका एक कारण यह हो सकता है कि अज्ञेय अपने उपन्यास में शिल्प के स्तर पर मनोविश्लेषण की पद्धतियों (पूर्व-दीप्ति, चेतना-प्रवाह तथा कथा के क्रमिक विकास का विशृंखलन) का तो उपयोग करते हैं लेकिन विषय-वस्तु के स्तर पर मनोविश्लेषण की सैद्धांतिकता को केन्द्र में रखना जरूरी नहीं मानते। (सैद्धांतिकता के मामले में उनका अधिक झुकाव टी० एस० इलियट और अस्तित्ववादियों के दर्शन की ओर ही रहता है।) इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि अज्ञेय के उपन्यास पूर्णतः मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणवादी उपन्यास नहीं हैं।

शेखर के "मानसिक जीवन" को अधिकांशतया "चेतना" की सीमा में ही देखा-दिखाया गया है। "अचेतन" के स्तर का व्यापक विश्लेषण वहाँ प्रायः नहीं है। अलबत्ता चेतना के अनेक स्तरों का विश्लेषण है। और अज्ञेय की औपन्यासिक कला को बेशक इस बात के लिए सराहना होगा कि यह विश्लेषण अपनी भावनात्मक सत्ता में इतना सूक्ष्म और संवेदना-प्रवण है कि कहीं

भी "शास्त्र" बनकर वह आँख नहीं दिखाता, निरन्तर "काव्य" बना रह कर संवेदित करता है। उदाहरण के लिए, शशि के सख्य को सहेजते शेखर की चेतना का अनेकस्तरीय उद्वेलन एक स्थल पर देखें—"वह शान्त थी, और शेखर को लगता था कि इस सख्य के बाहर कुछ नहीं है—यानी मूल्यवान् कुछ नहीं है, और यहाँ सख्य ही सिद्धि है और सुख है...किन्तु चेतना के इस स्तर को आड़े काटता हुआ एक दूसरा स्तर था, जो कहता था कि काम है, कि समष्टि के प्रति व्यक्ति का देय है, कि आपूर्ति है और कुंठा है और इसलिए विद्रोह है, कि उलझने हैं और गाँठें हैं और रस्सियाँ और बंधन हैं और इसलिए क्रांति है, और एक तीसरा स्तर था कि सूम की तरह जो धन बटोर कर वह बैठे रहना चाहता है, वह अपने आप नष्ट हो रहा है, कि शशि शांत है, पर घुल रही है, और एक दिन सहसा लुप्त हो जाएगी..." (भाग-2, पृ० 226)

मनोविश्लेषणशास्त्र व्यक्ति के मन की गहराई के उस स्तर तक जाने की माँग करता है, जिसे "अचेतन" कहा जाता है। फ्रॉयड ने "मनोविश्लेषण" (द्रष्टव्य, हिंदी अनुवाद, पृ० 16) के अंतर्गत "गलतियों का मनोविज्ञान" शीर्षक अपने व्याख्यान में विषय-प्रवेश कराते हुए कहा था—"यह दलीलबाज़ी करना कि मानसिक जीवन की चेतना की सीमा तक रहने वाला माना जाये या उससे भी आगे तक फैला हुआ माना जाये, बेकार का शब्दों का झगड़ा मालूम होता है। पर मैं आपको यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि अचेतन मानसिक प्रक्रमों को स्वीकार करना दुनिया में और विज्ञान में एक नयी दिशा की ओर निश्चित कदम बढ़ाना है।" व्यक्ति-मानस को समझने में फ्रॉयड की मान्यता के योगदान का अज्ञेय कितना महत्त्व स्वीकार करते हैं, यह हम शुरू में दिखा आए हैं। किन्तु उपर्युक्त उद्धरण में फ्रॉयड ने "**अचेतन मानसिक प्रक्रमों**" की अनिवार्यता स्वीकार करके चलने का जो सुझाव दिया है, अज्ञेय उस पर अधिक अमल नहीं करते। कारण यह है कि यदि "शेखर : एक जीवनी" में अहंता, भय, सेक्स को "अचेतन मानसिक प्रक्रमों वाली फ्रॉयडीय व्याख्या के तहत निरूपित किया गया होता, तब तो मनोवैज्ञानिक रूप में शेखर को एक "**ग्रंथिग्रस्त" व्यक्तित्व** के तौर पर ग्रहण करना लेखक की विवशता हो जाती है। यह विवशता लेखक की औपन्यासिक प्रतिज्ञा को ही उलट देती। यानी तब शेखर की "**स्वतंत्र व्यक्तित्व-खोजी छवि**" ही विपर्यस्त हो जाती। इसलिए शेखर के मन का "चरित्र" बनना उपन्यास में उसी स्तर को "फ़ोकस" करता है जो अनुभूति, विचार और इच्छा का चेतनागत स्तर होता है। **मनो-विश्लेषण का उतना ही उपयोग उपन्यासकार अज्ञेय को अभीष्ट है जितने से शेखर के मन के चेतना वाले स्तर की अदम्यता उद्घाटित हो सकें।**

अचेतन या अवचेतन वाले स्तर पर अनुभूति, विचार या इच्छा के किसी प्रक्रम को शेखर में यदि उपन्यासकार दिखाता भी है तो उसका केवल उतना ही हिस्सा दिखाता है जितने के द्वारा, या तो किसी आलंबन के प्रति शेखर के मन की वह "**भावबद्धता**" स्पष्ट हो सके जिसे मनो-यौनिक (साइको-सेक्सुअल) व्याख्या में "फिक्सेशन" कहा जाता है, या फिर स्वयं अपने प्रति शेखर का वह विश्वास रेखांकित किया जा सके, जिसमें उसकी अहं-भावना का अप्रतिहत रूपांतरण होता चलता है और जो मनोविज्ञान की भाषा में "स्व-स्थापन" (सेल्फ-एसर्शन) कहलाता है। "भावबद्धता" या "फिक्सेशन" के सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों पक्ष शेखर के प्रारंभिक जीवन से ही क्या आकार ग्रहण करते हैं, इसकी एक मिसाल इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है—"शेखर को लगता था कि जिस प्रकार जो वांछित है, प्रिय है और समझने और सहानुभूति करनेवाला है, उसका पूँजीभूत रूप सरस्वती है, उसी प्रकार जो अवांछित, अप्रिय, न समझने वाला और कठोर है, उसका साकार रूप एक घनीभूत विघ्न, उसकी माँ है।" (भाग-1, पृ० 144)

"स्व-स्थापन" के स्तर पर शेखर अपने पुरुष होने की सार्थकता को जिस स्पृहा से जोड़कर देखता है, वह कुछ इस तरह की है—"आदमी बनते हैं, तो वे अपने को प्यार करनेवाली, अपने से छोटी किसी स्त्री के लिए बनते हैं, जो उनमें आस्था रखती है और जिस आस्था के योग्य होने की चेष्टा में वे जान लड़ा देते हैं।" (भाग-1, पृ० 145)।

अनुभूति, विचार और इच्छा के ये उपर्युक्त प्रक्रम शेखर की "आत्मग्रस्तता" के लक्षण हैं। इन्हें शेखर की नारी-संवेदना के सन्दर्भ में चाहे जितना व्यापक अर्थ दिया जा सके लेकिन इनकी अचेतनगत गहराइयों की पूरी मनोविश्लेषणात्मक पड़ताल अज्ञेय नहीं करते। क्योंकि शेखर की आत्मग्रस्तता को उन्हें व्यक्तित्व की खोज वाले दर्शन से जोड़ना था। इस कार्य में जहाँ उन्हें मनोविश्लेषण से खतरा नजर आता है, वे उससे मुँह मोड़ने लगते हैं, और फौरन शरण लेने लगते हैं, टी० एस० इंलियट के रचना-दर्शन की, या फिर अस्तित्ववादियों के जीवन-दर्शन की।

मनोविश्लेषण की सोद्देश्यता के प्रसंग में जब प्रेमचन्दोत्तर औपन्यासिक परिदृश्य पर नज़र दौड़ाई जाती है तो अक्सर जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी और अज्ञेय, तीनों लगभग एकदम अड़ोस-पड़ोस के लेखक प्रतीत होते हैं। लेकिन इन तीनों उपन्यासकारों के यहाँ मनोविश्लेषण के उपयोग की यदि तुलना करके देखी जाए, तो तीनों की रचना-दृष्टि का अंतर पहचाना जा सकता है। जोशी के यहाँ मनोविश्लेषण की साग्रहता शुरू से ही जैनेंद्र और अज्ञेय की अपेक्षा ज्यादा स्पष्ट दिखती है—इस कदर स्पष्ट है कि अक्सर वह साग्रहता रचना की संवेदना को स्थूल बनाकर भोथरा कर देती है। जैनेन्द्र के यहाँ मनो-विश्लेषण उनकी दार्शनिक अभिवृत्ति से आवृत्त मिलता है और अज्ञेय के यहाँ "व्यक्तित्व की खोज के दर्शन" से नियंत्रित। इसलिए जैनेंद्र और अज्ञेय के उपन्यासों में मनोविश्लेषण के अंतर्गत स्थूलता का कोई अंदेशा नहीं रहता। सूक्ष्मता ही उसका मूल गुण है। जैनेंद्र का मानना है : "जो तीर की तरह अंतः तक जा लगे, बुद्धि के पटल और जाल को भेद कर मर्म में घुस जाये और हलचल उपस्थित कर दे...वह सच्ची चीज़ है, उपादेय है और वह जीने और जिलाने के लिए आई है।" (परख, पृ० 4) जोशी को **"अंतर्भेदी तीर"** नहीं, **"अंतःप्रवेशक अस्त्र"** चाहिए था (द्रष्टव्य "साहित्य चिंतन" पृ० 57) जो उन्हें मनोविश्लेषण शास्त्र के रूप में मिला। जोशी को उस "अस्त्र" की "अंतःप्रवेशकता" पर तो भरोसा था ही, साथ ही यह विश्वास भी था कि वह मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों के "पूर्ण ज्ञान" का माध्यम भी है। अज्ञेय ने मनोविश्लेषण का उपयोग न तो "अंतर्भेदी तीर" की तरह किया, न "अंतःप्रवेशक अस्त्र" की तरह, बल्कि व्यक्ति के सचेतन आत्म-साक्षात्कार की प्रविधि के तौर पर किया। अज्ञेय के लिए मनोविश्लेषण की सार्थकता व्यक्ति के "पूर्ण आत्मसाक्षात्कार" का माध्यम बनने भर में है, जोशी की तरह उसे मूल प्रवृत्तियों के "पूर्णज्ञान" का माध्यम बनते देखने में नहीं। जहाँ तक जैनेंद्र का प्रश्न है, जैनेन्द्र के लिए पूर्णता-अपूर्णता का कोई मतलब ही नहीं है। जैनेंद्र का यथार्थ-सम्बन्धी दृष्टिकोण यह है—"यथार्थ यथार्थ है और तत्सम्बन्धी हमारी समझें (ज्ञान-विज्ञान) हमारे ही घरौंदे हैं। सच सबके पार है।" (कल्याणी, पृ० 101) जैनेंद्र के यहाँ जो सच "ज्ञान-विज्ञान" सबके पार है, जोशी के यहाँ उसे "ज्ञान-विज्ञान" के भीतर से उपलब्ध करने की कोशिश मिलती है। इसलिए जोशी के उपन्यासों में जैनेंद्र की-सी मुनिनुमा दार्शनिक मुद्रा नहीं मिलती। जोशी अपने लेखक की सार्थकता दार्शनिक होने में नहीं, "दर्शक" मात्र होने में मानते हैं। अपने उपन्यास "निर्वासित" की भूमिका में जोशी लिखते भी हैं—"मैं जीवन का विनम्र दर्शक मात्र हूँ। जीवन में घटित होने वाली कुछ विशेष घटनाओं को लेकर उन्हें कुछ

विशेष पात्रों के जीवन-सूत्र में पिरोकर अपनी योग्यतानुसार उनका यथार्थ चित्र अंकित करने का प्रयास भर करता हूँ।" अज्ञेय के लिए रचनाकार होना, न दार्शनिक होने का उपक्रम है, न दर्शक होने का। उनके लिए महत्त्वपूर्ण है "दृष्टा" होना। और वे मानते हैं, "घोर यातना व्यक्ति को दृष्टा बना देती है।" इसलिए मनोविश्लेषण के सहारे न तो वे जैनेंद्र की तरह अपने पात्रों में अंतर्लीन होते हैं, न जोशी की तरह अपने पात्रों का **अंतरावलोकन** करने की जहमत उठाते हैं। अज्ञेय मनोविश्लेषण के साथ किसी प्रकार के आशावाद को भी नत्थी नहीं करते। **"घोर यातना"** का मनोविज्ञान उद्घाटित करते हुए शुरू में ही वे **"घोर निराशा"** तक का महत्त्व बताने लग जाते हैं—"घोर यातना" व्यक्ति को दृष्टा बना देती है, यहाँ यह भी कहूँ कि घोर निराशा उसे अनासक्त बना कर दृष्टा होने के लिए तैयार करती है। (भाग-1 भूमिका, पृ० 7)

मात्र "दृष्टा" भी नहीं, "अनासक्त दृष्टा" ! और अनासक्त दृष्टा होने की तैयारी के लिए "घोर निराशा की ऐसी घोर वकालत करता मनोविश्लेषण अगर शंका की दृष्टि से देखा जाए तो आश्चर्य न होना चाहिए। डॉ० नामवर सिंह ने एक स्थान पर जहाँ सामाजिक यथार्थवाद के लिए एक खतरे के रूप में मनोविश्लेषणवाद का उल्लेख किया है, वहाँ अकारण नहीं है कि वे अज्ञेय के कथानायकों का भी विशेष स्मरण करते हैं—"एक खतरा तो मनोविश्लेषणवाद की ओर से है जिसमें या तो शेखर और भुवन जैसे सर्वथा अहंवादी और असाधारण पात्रों की सृष्टि की जाती है, अथवा इलाचंद्र जोशी के सेक्सग्रस्त अद्‌भुत नायकों का निर्माण होता है।" (आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० 116)

वस्तुतः रचना में मनोविश्लेषण के उद्देश्य को लेकर हिंदी-कथाकारों के मुख्यतया दो वर्ग माने जा सकते हैं। एक वर्ग उन कथाकारों का है जो अपने पात्रों के अचेतन और अवचेतन में झाँक कर उसकी मनोग्रंथियों का उद्घाटन इस उद्देश्य से करते हैं कि उनके व्यक्तित्व का उपचार करने की दिशा तलाशी जा सके और इस तरह, अंततः व्यक्तित्व का सामाजिकीकरण संभव होता दिखे। दूसरे वर्ग में ऐसे कथाकार आते हैं जो मनोविश्लेषण को किसी उपचारात्मक उद्देश्य के लिए नहीं उपयोग में लाते बल्कि उसके माध्यम से व्यक्ति के अहंभाव की चरितार्थता उभारना चाहते हैं। अज्ञेय इसी दूसरे वर्ग के उपन्यासकारों में अग्रगण्य हैं। व्यक्ति का आत्म-अभिमान या अहंकार भी उनके विश्लेषण से गुजर कर शेखर के लिए **"एक नया दृष्टिकोण"** बन जाता है। (भाग-2, पृ० 55) **अज्ञेय का शेखर कहीं भी और कभी भी इस बात के लिए नहीं पछताता कि वह समाज का नहीं हो सका। वह पछताता है तो सिर्फ वहीं और सिर्फ तभी, जहाँ और जब किसी को समाज के लिए अपने "व्यक्ति" की बलि देते देखता है।** ऐसे ही पछतावे का एक घनीभूत बिंदु शशि के वर्तमान को लक्ष्य करते समय शेखर द्वारा याद की गई अपनी एक भूल के इस एहसास में (भाग-2, पृ० 78) उभरता है—"क्यों उसने शशि को अपनी सम्मति नहीं दी थी ? क्यों नहीं उसे कहा था कि समाज पर अपने को बलि देना अपनी और समाज की भी विडम्बना है ?"

□□□

रामकमल राय

शेखर में अज्ञेय

'शेखर : एक जीवनी' के प्रथम भाग के प्रकाशन के साथ ही जो एक सवाल लगातार उठता रहा और उठाया जाता रहा कि क्या 'शेखर : एक जीवनी' लेखक के उस काल तक के जीवन का ही प्रतिबिंब है, क्या वह अज्ञेय की आत्मकथा है अथवा आत्मघटित या उपयोग करते हुए एक औपन्यासिक प्रयास है। 'शेखर में अज्ञेय क्या एक लेखक के रूप में ही न होकर उसके चरित्र-नायक शेखर के चिन्तन और आचरण में गहराई से विद्यमान है। सबसे पहले यह प्रश्न 'शेखर : एक जीवनी' के लेखक अज्ञेय ने पाठकों के अन्तर्मन्थन के लिए भूमिका में ही खड़ा किया है। "क्या यह जीवनी आत्म-जीवनी है ? यह प्रश्न अवश्य पूछा जाएगा। बल्कि शायद पूछा भी नहीं जायेगा क्योंकि पाठक पूर्व धारणा बनाकर चलेगा[1] प्रश्न तो अज्ञेय ने अवश्य उठाया है, किन्तु एहसास यह पैदा करना चाहा है कि यह प्रश्न बहुत साधारण नहीं है। एक प्रकार से उन्होंने ऐसा सोचने वालों का उपहास भी किया है जब वह कहते हैं कि हिन्दी पाठकों की मानसिकता हर रचना को लेखक के जीवन से जोड़कर ही देखने की होती है। इतना ही नहीं वह टी० एस० इलियट के उस वाक्य को भी उद्धृत करते हैं : "There is always a seperation between the man who suffers and the artist who creates; and the greater the artist the greater the seperation." इस उद्धरण के बाद वह बड़े संतोष के साथ कहते हैं, "मुझे मानना पड़ेगा कि इलियट के कथनानुसार मैं बहुत बड़ा आर्टिस्ट हो सका हूँ। शेखर का एक भी पात्र नहीं है जो निम्नाधिक मात्रा में एक संश्लिष्ट चरित्र (Composite character) नहीं है।"[2] किन्तु, इतना कहते ही अज्ञेय के भीतर जैसे कोई विद्रोह फूट आता है। उन्हें लगता है कि ऐसा कहते हुए वे एकदम सच नहीं कह रहे हैं और तत्काल एक दूसरी पहचान बनाने का यत्न करने लगते हैं। और तब वह कहते हैं : "तथापि मेरी अनुभूति और मेरी वेदना शेखर को अभिसिंचित कर रही है और यह अभिसिंचन ऐसा है कि उससे यह कहकर छुटकारा नहीं पाया जा सकता कि अन्ततोगत्वा सभी गल्प-साहित्य आत्माभिव्यक्तिमूलक है, अपने ही जीवन का चित्रण नहीं तो प्रक्षेपण (Projection) है, अपने स्यात् की कहानी है।" वह फिर आगे कहते हैं, "शेखर में मेरापन कुछ अधिक है, इलियट का आदर्श (जिसकी महानता मैं मानता हूँ) मुझसे नहीं निभ सका है। शेखर निस्संदेह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज, a record of personal sufferings है।"[3]

1. शेखर की भूमिका पृ० ज नेशनल पब्लिशिंग हाउस प्र० सं०
2. वही पृ०, झ
3. वही पृ० झ

यह अंतिम पंक्ति जिस आत्म स्वीकृति का विवश विस्फोट है, सच वही है। चरित्र संश्लिष्ट हो सकते हैं। नाम और स्थान बदले जा सकते हैं। सारी स्थूलताएँ और पार्थिवताएँ रूपांतरित की जा सकती हैं, किन्तु कथानक का प्राणतत्त्व जिस अनुभूति में बसा हुआ है वह किसका है ? यही मूल प्रश्न है। और इसका उत्तर बारंबार एक ही उभर कर आता है कि जिस शेखर को फाँसी होने वाली है, वह अज्ञेय हैं। जिस शेखर ने अपने बचपन के विभिन्न अनुभवों के बीच अपने विद्रोह को, अपनी स्वतंत्रता को, अपनी धुन को, अपने संकल्प को, अपने राग को, अपनी निस्संगता को निर्मित किया है, वह बच्चा भी अज्ञेय ही है। जो आगे क्रांतिकारी बनकर दर-दर भटक रहा है, अपनी नियति को पहचान रहा है अपने भीतर और बाहर से जूझ रहा है, अपने दुःख में से दृष्टि को निर्मित कर रहा है, वह भी अज्ञेय ही हैं। नितान्त अकेलेपन में बैठकर रातभर जो अपने 'विजन' को लिपिबद्ध कर रहा है वह भी 'शेखर' नामधारी प्राणी अज्ञेय ही हैं।

ऐसा मानना आग्रह या जिद्द की बात नहीं है, न ही अपनी मान्यता को खामखाह आरोपित करने की बात है। यह एक संयोग ही कहा जायगा कि प्रस्तुत लेखक अज्ञेय का जीवनीकार भी रहा है और जहाँ एक ओर उसे अज्ञेय की रचनाओं के अनुशीलन से अपनी तलाश को निष्पन्न करने का अवसर था, वहीं दूसरी ओर अज्ञेय से भी लेखक की पहचान व्यक्तिगत धरातल पर बहुत गहरी थी। हफ्तों-हफ्तों उनके साथ उनके जीवन को लेकर लेखक के उनसे लंबे-लंबे वार्तालाप हुए। एक प्रकार से लेखक के आग्रह पर अज्ञेय अपने पूरे जीवन को लेखक के सामने दुबारा धाराप्रवाह कभी द्रुत, कभी धीरे, कभी स्फुट, कभी मुखर रूप से शब्द-शब्द उगलते रहे। जब मैंने अज्ञेय की जीवनी लिखने का संकल्प किया था, उसी समय मेरे और उनके बीच एक समझौता हुआ था कि यह जीवनी तभी लिखी जा सकेगी जब वे मेरे साथ पूरी तौर पर सहयोग करने को तैयार हों। मैंने उसी समय अज्ञेय जी से यह भी बतला दिया था कि मैं उनकी रचनाओं का उपयोग अपनी समझ से उनके जीवन संदर्भों की पहचान के लिए करूँगा और यह भी चाहूँगा कि वह मेरी पहचान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा सकें अर्थात् जहाँ उन्हें लगे कि उनकी रचनाओं से उनके जीवन संदर्भों की पहचान में मुझसे चूक हुई है, वहाँ वे मुझे टोक सकते हैं। अज्ञेय ने दोनों ही बातों को बड़े ही अनाविल भाव से स्वीकार किया। जब मैं उनके साथ बैठकर उनके जीवन के विषय में जानने के लिए अपने को तैयार कर रहा था, उसी समय उन्होंने मुझसे जानना चाहा कि यह उद्‌घाटन प्रक्रिया किस प्रकार की होगी। मैंने निवेदन किया कि जब से उन्हें अपने जीवन की घटनाएँ याद आ रही हों वे एकाग्रचित्त से मेरे सामने बैठकर धीरे-धीरे उन्हें क्रमशः सुनाते जायँ और मैं उन्हें लिपिबद्ध करता चलूँ और एक बैठक के अंत में जब वे बोलना बंद कर दें तो उस कहे गए के संदर्भ में मुझे जो कुछ पूछना होगा मैं पूछ लूँगा। अज्ञेय ने मुझसे यह भी कहा था कि मैं उनसे जो कुछ भी पूछूंगा वे पूरी ईमानदारी और खुलेपन से बतलाएंगे। यह मेरे लेखकीय विवेक पर निर्भर होगा कि मैं उसमें से कितना प्रकाशन योग्य समझता हूँ। इसके बाद वह अनवरत यज्ञ प्रारंभ हुआ जहाँ अज्ञेय अपने में डूबकर, कभी आँखें बंद किए हुए, कभी शून्य की ओर निहारते हुए लगातार अपने विगत जीवन में उतरते हुए, अनुभवों को, स्मृतियों को शब्दों में उंडेलते रहे। मैं चुपचाप कलम चलाता रहा और उन्हें देखता और सुनता रहा। घर के निविड़ एकान्त में जैसे केवल उन्हीं के मुँह से झरने वाले शब्द थे और मैं उन शब्दों का एकमात्र श्रोता। मुझे बार-बार अनजाने एक कालकोठरी में बैठे हुए और अपने विगत अनुभव को फिर से जीते, भोगते और लिखते हुए अज्ञेय का स्मरण हो आता था। 'शेखर : एक जीवनी' का लेखक अपनी रचना-प्रक्रिया में साकार मेरे सामने जीवन्त और क्रियाशील बैठा हुआ था।

अज्ञेय जब तक अपने शैशव से लेकर बीस वर्षों तक के क्रांतिकारी जीवन तक की जीवनयात्रा सुना रहे थे, मैं बराबर दो स्तरों पर क्रियाशील था। एक ओर मैं अज्ञेय के मुँह से उनके विगत जीवन की घटनाओं को सुन रहा था, और दूसरी ओर 'शेखर : एक जीवनी' के अनुभव मेरे भीतर से लगातार गुजरते जा रहे थे। हर बैठक के अंत में मैं कई-कई प्रश्नों के द्वारा 'शेखर : एक जीवनी' में आई हुई घटनाओं और अनुभवों को सत्यापित करता रहा। अज्ञेय ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि उनके जन्म और शेखर के जन्म का वृत्तान्त एक ही है। उनके जीवन की पढ़ाई और शेखर के अध्ययन क्रम में भी पर्याप्त समानता है। अंग्रेज अध्यापक मि० गैस का जो वर्णन है उसमें कुल मिलाकर सच्चाई से इतना ही फर्क है कि मि० गैस वास्तविक जीवन में मि० कैस थे। बचपन में लड़के और लड़कियों के मिले-जुले स्कूल से जिस प्रकार शेखर झगड़कर अलग होता है, वह अज्ञेय के ही जीवन की घटना है। थुक्कू मास्टर वाली घटना भी सच्ची घटना है। माँ के अविश्वास वाली बात भी पूरे तौर पर सच है। अज्ञेय का सामंजस्य मां से कभी उतना नहीं रहा जितना उनकी बुआ सुखदा जी से था।

जब मैंने शशि के बारे में प्रश्न किया तो वह कुछ देर तक चुप रहे। बाद में उन्होंने कहा कि वह एक व्यक्ति नहीं है, मेरी कई फुफेरी बहनें थीं जिनका मिला-जुला संश्लिष्ट चरित्र शशि के रूप में उभर कर आता है। यह मेरे और अज्ञेय के बीच का पहला क्षण था जब मैंने उनकी ओर अविश्वास भरी दृष्टि से देखा। मैंने कहा कि यदि शशि एक चरित्र नहीं है, एक व्यक्ति नहीं है तो 'शेखर : एक जीवनी' इतनी सघन रचना कैसे है ? वे फिर चुप रहे। मैंने कुरेदना उचित नहीं समझा और बहुत-सी घटनाएँ हू-ब-हू उनके जीवन की हैं जो उन्होंने स्वीकार की हैं। शेखर की क्रांतिकारी जिन्दगी अज्ञेय की क्रांतिकारी जिन्दगी का ही प्रतिबिंब है—यह भी उन्होंने स्वीकार किया। जिस प्रकार से शेखर एक ओर राग और दूसरी ओर क्रांति के बीच झूलता है, वह भी अज्ञेय के अपने ही जीवन से निष्पन्न है। शेखर की सर्जनात्मकता भी अज्ञेय की ही सर्जनात्मकता है। यदि अपने को ही उद्धृत करूँ तो कह सकता हूँ: "वात्स्यायन के बचपन से ही उनमें रागतत्त्व की प्रधानता थी। उनकी सृजनात्मक ऊर्जा मूलतः प्रेम की ऊर्जा है। जहाँ उन्होंने अपने पिता से एक मानसिकता, संकल्प, स्वावलम्बन और धुन के संस्कार प्राप्त किए थे, वहीं अपने परिवेश की तटस्थता से उन्हें एकान्तप्रियता और अपने काम में तन्मयता की प्रवृत्ति मिली थी। परंतु, उन दोनों से गहरे उनके भीतर का रागत्व लगातार करुण परिस्थितियों से गुजर रहा था। वह वात्स्यायन के भीतर एक गहरी सर्जनात्मकता की प्रतिष्ठा कर रहा था जहाँ संस्कारों से वह खोजी थे, अपनी अनुभूति की ऊर्जा से लगातार सृजनशील।"[1] यह उद्धरण मैंने इसलिए देना आवश्यक समझा कि यह अंश उस जीवनी से लिया गया है जिसको अज्ञेय का समर्थन मिला था और जो 'शेखर : एक जीवनी' में व्यंजित शेखर के चरित्र से पूर्णतः तादात्म्य रखता है। यह जीवनी तो मैंने उस समय लिखी थी जब अज्ञेय सत्तर वर्ष की आयु पार कर चुके थे। और 'शेखर : एक जीवनी' के अनुभव बीस वर्ष तक के ही शेखर के जीवन के अनुभव हैं। इसलिए अज्ञेय के इधर के पचास वर्षों का विविध आयामी कर्मनिष्ठ और सृजनात्मक जीवन बीच में खड़ा है। इसलिए इस समय के अज्ञेय को उस काल के अज्ञेय के काल के पास ले जाना, उसके बीच से गुजारना कोई सरल काम नहीं था। 'शेखर : एक जीवनी' के लेखक के तत्कालीन जीवन संदर्भों में जो बातें अत्यधिक अनुभूति प्रवण और सघन प्रतीत होंगी उनकी अनुभूति प्रवणता और सघनता सत्तर वर्षीय अज्ञेय के लिए उसी सच्चाई से महसूस हो सके यह

1. शिखर से सागर तक : रामकमल राय, पृ० 39

न संभव है न स्वाभाविक। फिर भी मैंने देखा कि इस देहरी पर खड़े होकर भी अज्ञेय कुछ समय के लिए बहुत कुछ वैसे ही बन गए थे जैसे वे 'शेखर : एक जीवनी' के लेखक के रूप में थे और इतना काफी है, उस रचना में अज्ञेय के जीवन-रस को रेखांकित करने के लिए।

जैसा ऊपर संकेत किया गया शेखर का राग, शेखर की क्रांति, शेखर का विद्रोह, शेखर का समाज और राष्ट्र-धर्मिता बहुत कुछ अज्ञेय के अपने जीवन अनुभव की चीज है। किन्तु, यह तो मानना ही पड़ेगा कि शेखर एक जीवनी अनुभव का अंकन नहीं, अनुभव की पुनर्रचना है और अज्ञेय की सर्जनात्मक प्रतिभा की पहली और महत्त्वपूर्ण कसौटी है जिस पर वह खरे कंचन के रूप में प्रमाणित हुए हैं। उस सृजनशीलता की ही एक अनिवार्य माँग यह होती है कि अनुभव में से बहुत कुछ छूटता भी है और रूपांतरित भी होता है, किन्तु, रेखांकित करने की बात यह है कि वह प्रेरणा तत्त्व पूरी सशक्तता और दुर्निवारता के साथ पूरी कृति में क्रियमाण रहता है और प्रेरणा तत्त्व शेखर की रागात्मकता है, अज्ञेय की रागात्मकता है। अपनी जीवनी की भूमिका में मैंने लिखा है : "परंतु, अज्ञेय इन अलग-अलग तस्वीरों के समुच्चय नहीं हैं, न उन सबको मिलाकर बनाए गए एक महाचित्र। वे तो एक ऐसी प्राणमयी ज्वाला हैं जिनके आलोक में ये सारे बिम्ब कौंधते रहते हैं, फिर भी जिसका बहुत कुछ अनकहा रह जाता है अज्ञेय का जीवन, अज्ञेय का सृजन और इन दोनों में अभिव्यंजित अज्ञेय का व्यक्तित्व अपने आप में एक दुर्निवार चुनौती है।"[1] ठीक यही बात शेखर के विषय में भी कही जा सकती है।

अज्ञेय से इस बात पर पूरी सहमति हो सकती है कि शेखर क्रमशः एक स्वाधीन चरित्र बनता जाता है जो न केवल अज्ञेय ही का प्रतिबिम्ब नहीं रहता बल्कि लेखक के हाथों की कठपुतली भी नहीं रह सकता। यह बिल्कुल ठीक बात है और शेखर एक जीवनी की सबसे केन्द्रीय पहचान शेखर के व्यक्तित्व की स्वाधीनता ही है। सच बात तो यह है कि अज्ञेय की भी सबसे केन्द्रीय पहचान उनकी स्वाधीनता है। उस बिन्दु पर फिर अज्ञेय और शेखर एक हो जाते हैं। शेखर जिस दुःख से गुजरता है और उसमें से जिस मुक्ति को क्रमशः पाता है वही मुक्ति और वही स्वाधीनता वह दूसरों को भी देता चलता है। स्वाधीनता की असल शर्त ही यही है कि वह जहाँ अवस्थित होती है उसे ही स्वाधीन नहीं बनाती, अपने आसपास और परिवेश को भी स्वाधीन बनाती है। शेखर उसी स्वाधीनता को अपने भीतर क्रमशः विकसित करता है। वही स्वाधीनता उसे अपने क्रांतिकारी जीवन में और बाद के जेल-जीवन में अपने साथियों के उत्सर्ग में, उनकी यातना में, मोहसिन की पीड़ा में, बाबा मदन के सूत्रों में सब जगह वही स्वाधीनता व्यक्त होती है। 'शेखर : एक जीवनी' जहाँ एक सर्जक व्यक्तित्व के निर्माण की कथा है, वहीं एक स्वाधीन व्यक्तित्व के निर्माण की कथा भी है। जैसा प्रारम्भ में ही कहा गया स्थूल रूप में चाहे अज्ञेय की उपस्थिति शेखर में एक सीमा तक ही हो किन्तु कृति की प्रांणवत्ता अज्ञेय की अपनी अनुभूति से सृजित हुई है और साथ ही 'शेखर : एक जीवनी' में अंकित युग तो अज्ञेय के उस काल के युगीन अनुभवों से सम्पृक्त है ही।

□□□

1. वही पृ० 14

लेखकों का संक्षिप्त परिचय

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के भू० पू० अध्यक्ष एवम् आचार्य। ख्यातिप्राप्त समालोचक। 'भाषा और संवेदना', 'सर्जन और भाषिक संरचना', 'इतिहास और आलोचक दृष्टि', 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' और 'प्रसाद, निराला और अज्ञेय' आदि कृतियों के लेखक।

डॉ० चन्द्रकान्त बान्दिबेडेकर,

बम्बई विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष एवम् आचार्य, ख्यातिप्राप्त आलोचक, अज्ञेय साहित्य के गहरे अध्येता एवम् लेखक।

गिरिराज किशोर

प्रसिद्ध कथाकार, नाटककार एवम् समीक्षक, 'परिशिष्ट' 'लोग' आदि उपन्यासों के लेखक, आई० आई० टी० कानपुर में सृजनात्मक लेखन केन्द्र के अध्यक्ष।

डॉ० रमेशचन्द्र शाह

हमीदिया कालेज भोपाल में अंग्रेजी के आचार्य, प्रसिद्ध समालोचक एवम् कवि, 'समानान्तर' प्रसिद्ध समालोचना ग्रन्थ।

भोलाभाई पटेल

गुजरात विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के आचार्य एवम् अध्यक्ष हिन्दी के प्रसिद्ध समालोचक। अज्ञेय साहित्य के मर्मज्ञ। गुजराती के ख्यातिप्राप्त लेखक।

प्रो० रघुवंश

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भूतपूर्व अध्यक्ष एवम् आचार्य, प्रसिद्ध समालोचक, उपन्यासकार एवम् चिन्तक, 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य' (समालोचना), 'वह अलग एक व्यक्ति' (उपन्यास), 'जेल और स्वतंत्रता' (चिन्तन), 'मानवयुग ईसा' (जीवनी) आदि के लेखक ।

डॉ० गोपाल राय

पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के आचार्य एवम् अध्यक्ष, प्रसिद्ध समालोचक, अज्ञेय के उपन्यासों पर मान्य समीक्षा ग्रन्थ।

डॉ० युगेश्वर

काशी विद्यापीठ में हिन्दी विभाग के आचार्य। प्रसिद्ध समालोचक एवम् चिन्तक। 'प्रसाद-तुलसी' पर समीक्षा-पुस्तकें।

डॉ० ओम प्रभाकर

प्रसिद्ध कवि एवम् समीक्षक। अज्ञेय के काव्य एवम् उपन्यासकारों पर समीक्षाग्रन्थ।

डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र

रीडर, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्व विद्यालय। मान्य समालोचक। 'यह पथ बन्धु था' पर समीक्षा ग्रन्थ। ज्ञानरंजन की कहानियों पर समीक्षा-पुस्तक। दर्जनों चर्चित आलोचनात्मक लेख। 'गोदान का महत्त्व' का सम्पादन।

डॉ० राजेन्द्र कुमार

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में रीडर, प्रसिद्ध समालोचक एवम् कवि और कथाकार। 'ऋण गुणा ऋण' चर्चित काव्यसंकलन। 'अभिप्राय' के सम्पादक।

डॉ० रामकमल राय

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में रीडर आलोचक एवम् जीवनीकार। 'अज्ञेय : सृजन और संघर्ष', 'नरेश मेहता : हिन्दी कविता की ऊर्ध्वयात्रा' 'हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य' एवम् शिखर से सागर तक, (अज्ञेय की जीवन यात्रा) के लेखक।

□□□

राम कमल राय

जन्म	:	1 जून 1934
ग्राम	:	मझवारा
जिला	:	मऊ (उत्तर प्रदेश)
शिक्षा	:	बी॰ एस-सी॰, एम॰ ए॰ (हिन्दी), एल-एल॰ बी॰, डी॰ फिल॰
व्यवसाय	:	इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में वरिष्ठ रीडर
रुचि	:	अपनी सामाजिक प्रतिबद्धताओं और भौतिक आस्थाओं के लिए जेल-यात्राओं से लेकर प्रकृति से गहरे सांस्कारिक तादात्म्य के कारण दुर्गम पर्वतों, सदानीरा नदियों, हहराते समुद्र-तटों और सुरम्य प्राकृतिक स्थानों की निजी तीर्थयात्राओं तक और भौतिकी, रसायन, गणित से लेकर साहित्य, दर्शन, मनोविज्ञान और राजनीति की नयी-से-नयी पुस्तकों की तलाश।
प्रकाशित कृतियाँ	:	1. अज्ञेय : सृजन और संघर्ष 2. हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य 3. कविता की ऊर्ध्व यात्रा : नरेश मेहता 4. शिखर से सागर तक (अज्ञेय की जीवन-यात्रा)
पता	:	90 सी, बाघम्बरी मार्ग, इलाहाबाद

अभिव्यक्ति प्रकाशन द्वारा प्रकाशित

प्रशासनिक सेवाओं (I.A.S., P.C.S.) में 'हिन्दी साहित्य' विषय लेकर सम्मिलित होने वाले प्रत्याशियों के लिए अपरिहार्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1.	**हिन्दी भाषा**	डॉ० हरदेव बाहरी	50.00
2.	**कविता का पाठ और काव्य-मर्म** सन्दर्भ : तीन लम्बी कविताएँ 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोज स्मृति' और 'अंधेरे में'	डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव	25.00
3.	**जयशंकर प्रसाद** विशेष सन्दर्भ : कामायनी एवं चन्द्रगुप्त नाटक	सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी	40.00
4.	**मुक्तिबोध और अंधेरे में**	डॉ० गिरीश रस्तोगी	25.00
5.	**हिन्दी नाटक और रंगमंच**	डॉ० गिरीश रस्तोगी	25.00
6.	**शेखर : एक जीवनी** विविध आयाम	सं० डॉ० राम कमल राय	30.00
7.	**कबीर (साहित्य और साधना)**	सं० प्रो० वासुदेव सिंह	40.00
8.	**कहानीकार प्रेमचन्द : एक पुनर्मूल्यांकन**	डॉ० एम० सी० जोशी	30.00
9.	**सूरसागर–सार-संग्रह** विनय, भक्ति तथा गोकुल लीला सम्बन्धी प्रारम्भ के 125 पद, आलोचना, मूलपाठ, शब्दार्थ, व्याख्या एवं टिप्पणी	डॉ० मोहन अवस्थी	25.00
10.	**कबीर साखी-सुधा** प्रारम्भिक 200 साखी मूल पाठ व्याख्या एवं समीक्षा	प्रो० वासुदेव सिंह	30.00

हमारे अन्य प्रकाशन

1.	**गांधी, नेहरू, टैगोर, आम्बेडकर**	डॉ० एम० सी० जोशी	25.00
2.	**Gandhi, Nehru, Tagore, Ambedker**	Dr. M. C. Joshi	30.00
3.	**स्वतन्त्रता संग्राम का संक्षिप्त इतिहास**	डॉ० एम० सी० जोशी	30.00
4.	**शारीरिक मानव विज्ञान** **(द्वितीय संशोधित, परिवर्द्धित संस्करण)** (I.A.S. के प्रश्न-पत्र I खण्ड 2(क) हेतु)	डॉ० ए० एन० शर्मा	50.00
5.	**सामाजिक मानव विज्ञान** (I.A.S. के अनिवार्य प्रश्न-पत्र हेतु)	डॉ० ए० एन० शर्मा	40.00